

**DUE DATE SLIP****GOVT. COLLEGE, LIBRARY**

KOTA (Raj )

Students can retain library books only for two weeks at the most

BORROWER'S No	DUE DATE	SIGNATURE

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन-संस्कृत-ग्रन्थमाला

४३

श्रीमद्वैवज्जपण्डितसूर्यप्रणीता

**नृसिंहचम्पूः**

‘प्रकाश’ संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेता

सम्पादकः संस्कृतव्याख्याकारः भूमिकालेखकश्च—

डॉ० श्रीसूर्यकान्तशास्त्री, एम. ए., डी. लिट्.

काशीहिन्दूविश्वविद्यालयस्थ—

संस्कृतपालीविभागाध्यक्षः

हिन्दीव्याख्याकारः—

साहित्याचार्यः श्रीराममूर्तित्रिपाठी, एम. ए.

काशीहिन्दूविश्वविद्यालयाध्यापकः



चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

प्रकाशक—चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

मुद्रक—विद्याविज्ञान प्रेस, वाराणसी

प्रथम संस्करण, संवत् २०१६

पुनर्मुद्रणादिकाः सर्वेऽधिकाराः प्रकाशकाधीनाः

The Chowkhamba Vidya Bhawan

Chowk, Varanasi-1 ( India )

1959

## दो शब्द

चम्पू का लक्षण सर्वप्रथम दण्डी के काव्यादर्श ( १.३१ ) में इस प्रकार मिलता है :—

‘गद्यपद्यमयी काचिच्चम्पूरित्यभिधीयते ।’

इसी को प्रकारान्तर से साहित्यदर्पण में यों लिया गया है :—

‘गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते ।’

इस परिभाषा में अतिव्याप्ति-दोष है; क्योंकि गद्य-पद्यमय होने के कारण नाटक भी इसमें आ जाता है। फलतः हेमचन्द्र ने चम्पू की परिभाषा इस प्रकार की है :—

‘गद्यपद्यमयी साङ्का सोच्छ्वासा चम्पूः ।’

इसी का विकास करके बाद में चम्पू का लक्षण इस प्रकार किया गया है :—

‘गद्यपद्यमयी साङ्का सोच्छ्वासा कविगुम्फिता ।

उक्तिप्रत्युक्तिविष्कम्भशून्या चम्पूरुदाहृता ॥’

इन लक्षणों में चम्पू-काव्य को सीमित कर दिया गया है। अङ्क और उच्छ्वास किसी चम्पूविशेष के गुण हो सकते हैं, उन्हें सभी पर लागू करना

उचित नहीं। इसी प्रकार कथोपकथन का प्रयोग होने पर भी चम्पू की आत्मा अभुङ्ग बनी रह सकती है। वस्तुतः चम्पू एक ऐसा काव्य है जिसमें जीवन के सरस भाव्यमय तत्त्वों को पद्य में और केवल वर्णनात्मक श्रृंगारों को गद्य में निबद्ध किया जाता है। कवि अपने चित्रण में जब भावाविष्ट हो उठता है तब उसकी माया गद्य का परिधान छोड़कर छन्दोबद्ध हो जाती है। वस्तुतः चम्पू एक मगीत-ममन्वित काव्य-कथा है।

चम्पू-काव्य यद्यपि मस्कृत-साहित्य में अनेक है, किन्तु उनका समुचित विकास कुछ कारणों से नहीं हो पाया। प्रमुख कारण तो इसका यही है कि लक्षण ग्रन्थों ने चम्पू काव्य का परिभाषा कुछ ऐसे ढंग में की जिससे चम्पू का विस्तृत क्षेत्र मञ्जूरित-सा बन गया, जिसके कारण चम्पूकार अपनी मौलिकता को अभिव्यक्त करने में असमर्थ रहे। किन्तु चम्पू काव्य का एक बहुत ही उत्तम रूप बन सकता है, क्योंकि उसमें कवि को यह स्वतन्त्रता है कि वह विवरणात्मक श्रृंगारों को गद्य के क्लेश में रखकर अपने भावोद्देश को स्वरमगत कर दे, और इस प्रकार गद्य के सूत्र में पद्य कुमुदों की मनोहर माला गूथ दे।

ज्ञात चम्पूओं में त्रिविक्रम भट्ट का नलचम्पू सर्वप्रथम है। उसका समय ९१५ ई० के आस-पास है। दिगम्बर जैन भौमप्रभ मूर्ति का यशस्तिलक चम्पू ९५९ ई० के आस-पास है। ये दो दोनों चम्पू चम्पू-साहित्य में विशेष महत्त्व के हैं। इनके अनिरिक्त हरिचन्द्र का चावधर चम्पू, भोज के नाम पर रामायण चम्पू, अनन्तभट्ट का भारतचम्पू भा उन्नेह्य हैं। भागवत चम्पू नामक तीन रचनाएँ उपलब्ध हैं — इनके कर्ता हैं चिद्म्बर, रामभद्र और राजनाथ।

नृसिंह चम्पू नामका भी चार रचनाएँ हैं। इनके कर्ता हैं केशव भट्ट,

नारायण, दैवज्ञ सूर्य और संकर्षण । इनके अतिरिक्त कुछ और चम्पू भी प्रकाशित हुए हैं जिनकी संक्षिप्त सूची इस प्रकार है :—

समरपुङ्गव दीक्षित	: ( तीर्थ ) यात्रा-प्रबन्ध
तिरुमलाम्बा	: वरदाम्बिकापरिणय
वेङ्कटाध्वरिन्	: विश्वगुणादर्श
अन्नयार्य	: तत्त्वगुणादर्श
कवितार्किकसिंह वेदान्ताचार्य	: वेदान्ताचार्य-विजय
रामचन्द्र चिरञ्जीव भट्टाचार्य	: विद्वन्मोदतरङ्गिणी
कृष्ण	: मन्दारमरन्द
रघुनाथ दास	: मुक्ता-चरित
जीव गोस्वामिन्	: गोपालचम्पू
परमानन्ददास सेन	: आनन्दवृन्दावन

इत्यादि

उपर्युक्त चम्पूकारों में दैवज्ञ सूर्य-विरचित नृसिंहचम्पू ही हमारा प्रतिपाद्य विषय है । दैवज्ञ-सूर्य का काल अनिश्चित सा है । ए. एन. दास गुप्त और एस. के. दे के संस्कृत साहित्य के इतिहास ( पृ. ४३७ टि. ६ ) में सूर्य दैवज्ञ-विरचित कंसवध नामक नाटक का भी उल्लेख है । इन्होंने नृसिंहचम्पू के प्रथमोच्छ्वास के चतुर्थ श्लोक में अपने को ज्ञानराज का पुत्र बतलाया है । इससे अधिक इनके सम्बन्ध में कुछ ज्ञात नहीं है ।

नृसिंहचम्पू का प्रस्तुत संस्करण इंडिया आफिस पुस्तकालय की एक हस्तलिपि के फोटो पर आधृत है, जिसे हमने लाहौर में १९५५ में वहां से मंगाया

था। उम हस्तलिपि में मूल चम्पूमात्र था, जिसका समझना छात्रों के लिये दुःसाध्य था। फलतः उमकी संस्कृत टीका हमें स्वयं करना पड़ी, जो कि श्रीजै पाठकी के मंसुल प्रस्तुत है। टीका की प्रामाणिकता के विषय में हमें कुछ नहीं कहना है। इसकी उपादेयता पाठकों की सहृदयता पर निर्भर है।

संभवतः इस संस्करण में और इस टीका में कुछ सुटियाँ रह गई हों। उनके लिये हम विद्वानों से क्षमा चाहते हैं।

सूर्य दैवज्ञ पण्डित एने तत्त्वज्ञानी वैष्णव थे। श्रीमद्भगवद्गीता पर इनकी परमार्थ प्रभा टीका प्रसिद्ध है; जिसमें जगह-जगह इन्होंने ऋग्वेद एवं यजुर्वेद के मन्त्रों का महारा लिया है और बहुत से स्थलों पर गीता का अपना अलग ही व्याख्यान किया है।

नृसिंहावतार में नर नारायण का सर्वोत्तम समन्वय हुआ था। दोनों कर्मा समन्वित रूप को सूर्य दैवज्ञ ने अपने गद्य पद्य समन्वित चम्पू में प्रमाथित किया है।

अपने कुनारसंभव के संस्करण में हमने शिव पार्वती स्कन्द के समन्वित रूप की आराधना की है। प्रस्तुत चम्पू के ध्याभ्यान द्वारा हमने नर नारायण के संवन्धित रूप की आराधना करके अपने जीवन को कृतकृत्य किया है।

जीवन की संध्या में शिव विष्णु का चर्चा करके हम अपने श्राव को कृतकृत्य कर रहे हैं।

कन्या हिन्दू विश्वविद्यालय

११-९-४९

}

सूर्यकान्त

## भूमिका

संसार में जव-जव पाप का बोलवाला होता है तब-तब उसके निरास के लिये भगवान् धराधाम पर आते और तब मानव जाति का उद्धार करते हैं। भगवान् के इन अवतारों में नृसिंह अवतार का अपना निराला महत्त्व है—क्योंकि इस अवतार में भगवान् ने मानव का रूप धारण करके उसे नृमृणता की पराकोटि पर पहुँचा दिया था और इसके द्वारा मानव जाति के संमुख शालीन वीरता का ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत किया था।

नृसिंहावतार का वर्णन पुराणों में स्थान-स्थान पर आता है और हर वर्णन में कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो अन्य वर्णनों में नहीं मिलती। इन वर्णनों के तुलनात्मक अध्ययन से नृसिंह एवं प्रह्लाद के आविर्भाव-क्रम पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। फलतः नृसिंहावतार के वर्णनों का सिंहावलोकन उपाख्यान के मर्म को हृदयंगम करने के लिये आवश्यक प्रतीत होता है।

ब्रह्मपुराण के २३ वें अध्याय में नृसिंहचरित का वर्णन इस प्रकार है:—

वाराह एष कथितो नारसिंहस्ततो द्विजाः । यत्र भूत्वा मृगेन्द्रेण हिरण्यकशिपुर्हृतः ॥ ४३ ॥  
पुरा कृतशुगे नाम सुरारिर्बलदर्पितः । दैत्यानामादिपुरुषः चकार सुमहत्तपः ॥ ४४ ॥  
दश वर्षसहस्राणि शतानि दश पञ्च च । जपोपवासनिरतः तस्थौ मौनव्रतस्थितः ॥ ४५ ॥  
ततः शमदमाभ्यां च ब्रह्मचर्येण चैव हि । प्रीतोऽभवत्ततस्तस्य तपसा नियमेन च ॥ ४६ ॥  
तंवै स्वयंभूर्भगवान् स्वयमागम्य भो द्विजाः । विमानेनार्कवर्णेन हंसयुक्तेन भास्वता ॥ ४७ ॥  
आदित्यैर्वसुभिः सार्धं मरुद्भिर्देवतैस्तथा । रुद्रैर्विश्वसहस्रैश्च यक्षराक्षसकिन्नरैः ॥ ४८ ॥  
चराचरगुरुः श्रीमान् वृतः सर्वैः सुरैस्तथा । ब्रह्मा ब्रह्मविदां श्रेष्ठो दैत्यं वचनमब्रवीत् ॥ ४९ ॥

ब्रह्मोवाच—

प्रीतोऽस्मि तव भक्त्याऽहं तपसाऽनेन सुव्रत । वरं वरय भद्रं ते यथेष्टं काममाप्नुहि ॥ ५० ॥

हिरण्यकशिपुर्वाच—

न देवासुरगन्धर्वा न यक्षोरगराक्षसाः । ऋषयो वाऽथ मां शापैः क्रुद्धा लोकपितामह ॥ ५१ ॥  
शपेयुस्तपसा युक्ता वर एष वृतो मया । न शस्त्रेण न वाऽस्त्रेण गिरिणा पादपेन वा ॥ ५२ ॥  
न शुष्केण न चार्द्रेण न चैवोर्ध्वं न चाप्यधः । पाणिप्रहारेणैकेन समृन्धयबलवाहनम् ॥ ५३ ॥  
यो मां नाशयितुं शक्तः स मे मृत्युर्भविष्यति । भवेयमहमेवार्कः सोमो वायुर्हुताशनः ॥ ५४ ॥



सन्नि चान्तरिक्ष च आकाश चैव सर्वश । अद् क्रोधदध कामश्च वरुणो वासवो यम ॥  
धनदश्च धनाध्यक्षो यश्च विपुस्थाधिप ॥ ५५ ॥

ऋक्षोवाच—एते दिव्या वरास्तान मया दत्तास्तवाद्मुता ।

सर्वान्नामानिमास्ताव प्राप्स्यसि त्व न मशय ॥ ५६ ॥

व्यास उवाच—

एवमुक्त्वा तु भगवान् जगामानु पितामह । वैराज ऋक्षसदन ऋक्षर्षिगणसेवितम् ॥ ५७ ॥

ततो देवाश्च नागाश्च गचर्वा मुनयस्तथा । वरप्रदान ह्रस्वैव पितामहमुपस्थिता ॥ ५८ ॥

देवा ऊचु —

वरेणानेन भगवन् वधिष्यति स नोऽमुर । तत्प्रसीदानु भगवन् वधोऽप्यस्य विचिन्त्यताम् ॥

भगवन् सर्वभूताना स्वयभूरादिकृ प्रभु । स्रष्टा च हव्यक यानामव्यक्त प्रवृत्तिभुवम् ॥ ६० ॥

व्यास उवाच—

ततो लोकहित वाक्य क्षुवा देव प्रजापति । प्रोवाच भगवान्वाक्य सर्वदेवगणांस्तथा ॥ ६१ ॥

ऋक्षोवाच—

अवश्य त्रिदशास्तेन प्राप्तव्य तपस फलम् । तपमोऽस्ते च भगवान् वध विष्णु करिष्यति ॥

व्यास उवाच—

एतच्छ्रुवा सुरा सर्वे वाक्य पङ्कजमन ।

स्वानि स्थानानि दिव्यानि जग्मुरत वै मुदान्विता ॥ ६३ ॥

स्वप्नमात्र वरे चापि सर्वा मोऽवापत प्रजा । हिरण्यकशिपुर्देव्यो वरदानेन दपित ॥ ६४ ॥

आश्रमेषु महाभागान् मुनीन्वे सदिनव्रतान् । सत्यधर्मतान्दानान् तदा धर्षितवांस्तथा ॥ ६५ ॥

त्रिदिवस्थाभ्यश्च देवान् पराजित्य महाबल । त्रेलोक्य वशमानीय स्वर्गे बसति सोऽमुर ॥ ६६ ॥

यदा वरमदो नसो विचरन्दानवो मुवि । यशोवानकरोद्देत्यानयश्रीयाश्च देवता ॥ ६७ ॥

आदिस्था वसुव माध्या विद्वै च मरुतस्तथा । शरप्य शरण विष्णुमुपतस्मुर्धहावहम् ॥ ६८ ॥

देवतप्रमय यश्च ऋक्षैव मन्त्रानम् । भूत मव्य भविष्य च प्रभु लोकनमस्तृणम् ॥

नारायण विभु देव शरण्य शरण गता ॥ ६९ ॥

देवा ऊचु —

प्रायस्व नोऽद्य देवश हिरण्यकशिपोर्मयात् । स्व हि न परमो देव त्व हि न परमो गुरु ॥

त्व हि न परमो धाता ऋक्षादीनां सुरोत्तम । उन्मुक्त्वा मन्त्रप्राश्च शत्रुपक्षक्षयकर ॥

क्षयाम दितिवशस्य शरण त्व भवस्व न ॥ ७१ ॥

वामुदेव उवाच—

मय स्थत्रध्वजमरा अमय धो ददाम्यहम् । तथैव त्रिदिव देवा प्रतिष्पत्यथ मा चिरम् ॥ ७२ ॥

एषोह मया देव वरदानेन दपितम् । अवश्यममरन्दां दानवाद्भ निहति तम् ॥ ७३ ॥

व्यास उवाच—

एवमुक्त्वा तु भगवान् विसृज्य त्रिदशेश्वरान् । हिरण्यकशिपोः स्थानमाजगाम महाबलः ॥  
नरस्यार्द्धतनुं कृत्वा सिंहस्यार्द्धतनुं प्रभुः । नारसिंहेन वपुषा पाणिं संस्पृश्य पाणिना ॥ ७५ ॥  
घनजीमूतसंकाशो घनजीमूतनिस्वनः । घनजीमूतदीप्तौजा जीमूत इव वेगवान् ॥ ७६ ॥  
दैत्यं सोऽतिबलं दृष्ट्वा दृष्टशार्दूलविक्रमः । दृष्टिदैत्यगणैर्गुप्तं हतवानेकपाणिना ॥ ७७ ॥

उद्धरण का सार यों है—

कृतयुग में दैत्यकुलावतंस हिरण्यकशिपु ने सहस्रों वर्ष घोर तप करके ब्रह्मा को प्रसन्न किया और उनसे वर मांगा कि ऋषि-मुनि-देव, गन्धर्व, किन्नर आदि में से कोई भी उसे शाप न दे सके, और अस्त्र, शस्त्र, पर्वत, वृक्ष आदि किसी भी प्रहार से किसी भी ओर से, उसका वध न हो सके। जो व्यक्ति एक ही चपेट से ससैन्य एवं सवन्धु-वान्धव उसे मार सके वही उसकी मृत्यु का कारण बने। सूर्य, चन्द्र, आकाश, वायु, वरुण आदि सभी देवता उसके आत्मसात् बन जायँ और इस प्रकार त्रिलोकी में शिव के समान उसी की तूती बजती रहे। एवमस्तु कह कर ब्रह्मा अपने आस्पद की ओर चले पड़े और इधर देवता लोग उनके इस वरदान से त्रस्त हो उनकी सेवा में पहुँच कर फरयाद करने लगे कि आपका उक्त वर पाकर तो यह दैत्यराट् आपे से बाहर हो प्राणिजात पर अत्याचार की आँधी चला देगा। भगवन्! इसे वश में रखिये और इसके वध का उपाय सोचिये। उनके अनुनय-विनय पर प्रसन्न होकर ब्रह्मा बोले—तप का फल तो दैत्यराट् को मिलकर ही रहेगा। किंतु जब मदोन्मत्त होकर वह अत्याचार की परा-क्रोधि पर जा पहुँचेगा तब विष्णु भगवान् नृसिंहावतार लेकर उसका संहार कर देंगे।

वर का मिलना था कि दैत्यराट् आपेको भूल चराचर पर अत्याचार की आग उगलने लगा और सब देवताओं को अपने वश में करके स्वर्ग का स्वामी बन बैठा। उसने उनकी चक्षांश छीन कर स्वयं भोगना आरंभ कर दिया। इस बात ने देवताओं पर जले पर नमक छिड़कने का काम किया और वे कांदिशीक हो विष्णु की सेवा में पहुँचे। आर्त जनवर्ग की टेर को सुनकर विष्णु भगवान् पसीज गए और उन्होंने नृसिंह का अवतार धारण करके कंचनकान्त दैत्यराट् का संहार कर, संसार को विपत्सागर से उवारा।

प्रत्यक्षतः इस कथानक में प्रह्लाद का नाम कहीं नहीं आता। हिरण्यकशिपु के परिवार में भी उनका संकेत नहीं है। नृसिंहावतार का कारण इस कथानक के अनुसार जन-जनपद का त्रास है न कि प्रह्लाद की यातनाएँ, और यह बात नृसिंहोपाख्यान में ध्यान देने योग्य है।

स्कन्दपुराण के अवन्ती क्षेत्र—माहात्म्य नामक पांचवें खण्ड के ६६ वें अध्याय में नृसिंहचरित की उत्थानिका इस प्रकार है—

मनसुमार उवाच—

भूय शृणु परं व्यामर्शानामुत्तमं वरम् । तत्तीर्थं सर्वपापघ्नं नृसिंहस्य महात्मनः ॥१॥  
 यस्य दर्शनमात्रेण सर्वपापं ममुत्तरेण । दैत्यराजं सभारयात् हिरण्यकशिपुं पुरा ॥२॥  
 तेनेयं वसुधा सर्वा संप्राप्ता च दुर्गात्मना । दुष्टदैत्यवलीव्याप्ता भाराक्रान्ता मुखादिता ॥३॥  
 गौभूर्त्वाऽश्रुमुखा देवैर्ब्रह्माणं शरणं यथौ । भारान्मान्ना धरा वृष्ट्वा ब्रह्मा लोकापितामह ॥४॥  
 उवाच श्लक्ष्णया वाचा ध्रुव तस्या व्यधोहितुम् । ध्रुवतां भोऽवने पुण्ये भवत्या उपकारकम् ॥  
 वचो वदामि ते नथ्य दैशङ्गालोचिन तथा । पुराणेन तपशीर्षं दुष्पर सर्वदेहिनाम् ॥ ६ ॥  
 गायत्र्युवासानां तेन कृता मुनियतात्मना । मया चास्य वरो दत्तः प्रीतियुक्तेन चेतसा ॥ ७ ॥  
 न दिवा न तथा रात्रौ नाप्नरिक्षे न भूतले । नातिशुष्केण चाद्रौ न चास्त्रशस्त्रघातनेः ॥८॥  
 न देवासुरगन्धर्वैर्न यक्षोरगकिन्नरैः । पिशाचैर्गुण्णकावैश्च राक्षसैर्न कदाचन ॥ ९ ॥  
 मानवैः पक्षिजानैश्च न मे मृत्युर्भवेदिति । एककरतलाघानैः सकुल बन्वाहनम् ॥ १० ॥  
 नारयिष्यति मावीर म मे मृत्युर्भविष्यति । तथेत्युक्त्वा प्रतिदृष्टात्मा तमहं च तदावने ॥ ११ ॥  
 आगम्य चैव लोकं स्व दैत्यो घोरशामनः । बभूव सर्वलोकानां शास्ता चातुलविक्रमः ॥१२॥  
 तस्यैवाधिकृता लोका बभूवुर्विगतज्वरा । त्रैलोक्यं मुमुजे नित्यं सर्वदैत्यजनेभ्यः ॥ १३ ॥  
 तस्मात्पूयं वनं यात् महाकालं महेशितुः । तत्र तीर्थं महच्छास्त्री च सर्वतीर्थं वरोत्तमम् ॥ १४ ॥  
 मगमेभ्यस्स दक्षिणे कर्कराजोत्तरे तथा । सिमातीरे शुभे देशे पूर्वं वैकुण्ठसन्निभम् ॥ १५ ॥  
 नृसिंहाख्यं परं धाम तस्य तीर्थं प्रतिष्ठितम् । तत्र गत्वा सुरभेषाः स्नानदानादिवः क्रियाः ॥  
 कुरन् सत्वरं सर्वे पुनर्लोकानवाप्स्यथ । ते तस्य वचनं श्रुत्वा देवा इन्द्रपुरोगमाः ॥ १७ ॥  
 महाकालं वनं प्राप्ता यत्र सिमा पयस्विनी । नृसिंहतीर्थोपकूले उषित्वा शास्वतीः समाः ॥१८॥  
 स्नानदानादिकं कृत्वा नृसिंहस्यार्चनं तथा । प्व कृत्वा विधानेन परा सिद्धिचित्तो गताः ॥१९॥  
 नृसिंहस्य स्वरूपेण हतो दानवपुङ्गवः । समामप्ये तदा व्यामर्शितामित्रयानिना ॥ २० ॥  
 करेणैकप्रहारेण हिरण्यकशिपुर्हतः । ततः सुरगणाः सर्वे स्वाधिकारान्ययुस्तदा ॥ २१ ॥

शिवपुत्र कुमार काचित्केय की अर्चना में रचे गये स्कन्दपुराण में पढ़ें कर नृसिंह की कथा कुछ द्वितरा-सी गई है और वहाँ देव-गन्धर्व किन्नरों की ओर से स्वयं धरा ब्रह्मा जी से विश्व के प्राण की मिष्टा मांगती है। ब्रह्मा पृथ्वी को दैत्यराज की अनुरूप तपस्या के विषय में ब्रह्मादे और उसके बदले में उसे दिये अपने वर की मी चर्चा करते हैं। साथ ही वे देव-वर्ग को मगमेस्वर से दक्षिण, कर्कराज से उत्तर, विष्णु नदी के तट पर वैकुण्ठ के समान प्रतिष्ठित 'नृसिंहधाम' पर स्नानादि करने की सलाह भी देते हैं। उनका आदेश पाकर देव-गन्धर्व नृसिंहतीर्थ में जाकर विधिवत् स्नान ध्यानादि करके अपने को कृत्कृत्य करते और अभिषिक्त फल की प्राप्ति करते हैं। उनकी तपश्चर्या से प्रसन्न हो मगवान् विष्णु ने नृसिंहावनार धारण करके एक ही चपेट में हिरण्यकशिपु का संहार कर दिया और इस प्रकार उसके मचण्ड नाड्य से विश्व वर उद्धार किया।

स्कन्दपुराण के उपाख्यान में एवं पूर्वोद्धृत उपाख्यान में ध्यान देने योग्य सान्य यह है कि इन दोनों में दैत्यराट् अपनी मृत्यु ऐसे वीर से मांगता है जो कि एक ही चपेट में सकुलबलवाहन उसका विनाश कर दे। दोनों का भेद तो सुतरां स्पष्ट है ही। यहाँ देवताओं को ओर से पृथ्वी ब्रह्मा के पास पहुँचती है। उपाख्यान के संघटन में भी कुछ बढ़को-सी जोड़-तोड़ दीख पड़ती है। उदाहरण के लिये एक ही बात को ले लीजिये।

अभी नृसिंह ने धरा पर हिरण्यकशिपु का संहार भी नहीं किया कि उनके नाम पर तीर्थ पहले की स्थापित हो गया जहाँ जाकर कि देवगण स्नान-ध्यान करते और इष्ट फल की प्राप्ति करते हैं। इस एक ही उदाहरण से वर्तमान पुराणों के ढाँचे का लचरपन प्रत्यक्ष हो जाता है।

वासुपुराण के द्वितीय भाग के छठे अध्याय में नृसिंहचरित का वर्णन इस प्रकार है:—

ऋषय ऊचुः—

दैत्यानां दानवानां च गन्धर्वोरगरक्षसाम् । सर्वभूतपिशाचानां पशूनां पक्षिवीरुधान् ॥

उत्पत्तिं निधनं चैव विस्तरात् कथयस्व नः ॥ ४८ ॥

एवमुक्तस्तदा नून उवाच ऋषिसत्तमान् । दितेः पुत्रद्वयं जज्ञे कश्यपादिति नः श्रुतम् ॥४९॥

कश्यपस्यात्मजौ तौ वै सर्वेभ्यः पूर्वजौ स्मृतौ । सूत्येहन्यतिरात्रस्य कश्यपस्याश्वमेधिके ॥५०॥

हिरण्यकशिपुर्नाम प्रथमं ऋत्विगासनम् । दित्या गर्भाद् विनिःसृत्य तत्रासीनोच्चसंसदि ॥

हिरण्यकशिपुस्तस्मात् कर्मणा तेन स स्मृतः ॥ ५१ ॥

ऋषय ऊचुः—

हिरण्यकशिपोर्नाम जन्म चैव महात्मनः । प्रभावं चैव दैत्यस्य विस्तराद् ब्रूहि नः प्रभो ॥५२॥

सूत उवाच—

कश्यपस्याश्वमेधोऽभूत् पुण्यो वै पुत्रोऽप्युरा । ऋषिभिर्देवताभिश्च गन्धर्वैरुपशोभितः ॥५२॥

उन्कृष्टेनैव विधिना आख्यानादौ यथाविधि । आसनान्युपकलृप्तानि काञ्चनानि तु पञ्च वै ॥५३॥

कुशपूतानि त्रीण्यत्र कूत्र(-र्चः?)फलकमेव च । मुख्यैर्विवजश्च चत्वारस्तेषां तान्युपकल्पयेत् ॥

शुभं तत्रासनं यत्तु होतुरर्थे प्रकल्पितम् । हिरण्यं तथा दिव्यं त्रिव्यास्तरणसंस्तृतम् ॥५६॥

अन्तर्वत्नो दितिश्चैव पत्नीत्वं समुपागता । दशवर्षसहस्राणि गर्भस्तस्या अवर्तत ॥ ५७ ॥

स तु गर्भाद् विनिःसृत्य मातुर्वै उदरात्तदा । उपकलृप्तासनं यत्तु होतुरर्थे हिरण्यमम् ॥

निपसाद् स गर्भोऽत्र तत्रासीनः शशंस च ॥ ५८ ॥

आख्यानपञ्चमान् वेदान् महर्षिः काश्यपो यथा ।

तं दृष्ट्वा मुनयस्तस्य नामाकुर्वन्तु तद्विधम् ॥ ५९ ॥

हिरण्यकशिपुस्तस्मात् कर्मणा तेन विश्रुतः ।

हिरण्याक्षोऽनुजस्तस्य सिंहीका तस्य चानुजा । राहोः सा जननी देवी विप्रचित्तेः परिग्रहात् ॥

हिरण्यकशिपुर्द्वैत्यश्चचार परम तप । शत वर्षसहस्राणां निराहारो ह्यथ शिरा ॥ ६१ ॥  
त ब्रह्मा ह्यद्रयामाम दैत्य तुष्टो वरेण तु । सर्वाभरत्वं विभ्रेष्य भवंभूतेभ्य एव च ॥

योगाद् देवान् विनिर्जित्य सर्वदेवत्वमास्थित ॥ ६२ ॥

दानवाश्चासुराश्चैव देवा नमा भवतु मे । मास्तैर्यन् महैद्रवयनेष मे दीयता वरः ॥ ६३ ॥

एवमुत्तोऽथ ब्रह्मा तु तस्मै इत्वा यथेप्सितम् ।

दत्त्वा तस्मै वरात् दिव्यान् तत्रैवान्तरधीयत ॥

हिरण्यकशिपुर्द्वैत्य इत्येवैर्गीत पुरातनैः ॥ ६४ ॥

राजा हिरण्यकशिपुर्था यामाशा निर्धवते । तस्यास्तस्या दिशो देवा नमश्चक्रुर्महर्षिभिः ॥ ६४ ॥

एवप्रभावो दैत्येन्द्र हिरण्यकशिपुर्दिवा । तस्यार्त्ताभ्ररग्निह म विष्णुर्मुत्सु पुरा किल ॥

नगैस्तु तन निर्भिन्नस्तन शुद्धा नगा स्मृता ॥ ६६ ॥

हिरण्याक्षमुता पञ्च विक्रान्ता ममहाबला । उत्कुर शकुनिश्चैव कालनाभस्तथैव च ॥ ६७ ॥

महानामश्च विक्रान्तो भूतसत्रापनस्तथा । हिरण्याक्षमुता ह्यते देवैरपि दुरासदा ॥ ६८ ॥

तेषा पुत्राश्च पौत्राश्च वाडेय सगण स्मृत । शत तानि सहस्राणि निहतास्तारकामये ॥ ६९ ॥

हिरण्यकशिपो पुत्राश्चत्वारस्तु महाबला । प्रह्लाद पूर्वजस्तेषामनुहादस्तथैव च ॥

सहादश्च हृदक्षैव हृदपुत्रान्निबोधत ॥ ७० ॥

भाव और भाषा दोनों की दृष्टि से इस वर्णन के निकटतम पहुँचा हुआ दूसरा वर्णन हमें ब्रह्माण्डपुराण ( द्वितीय ) के पाँचवें अध्याय में इस प्रकार मिलता है —

मृत उवाच—

दिते पुत्रद्वय जसे कन्या नैका महाबला । कश्यपपरयात्मजौ तौ तु सर्वेभ्य पूर्वजौ स्मृतौ ॥ ३ ॥

मौयेऽह्न्यनिरात्रस्य कश्यपस्याश्वमेधिका । हिरण्यकशिपुर्नाम प्रथित पृथगामनम् ॥ ४ ॥

दित्वा गर्भाद् विनिर्जित्य तत्रामीन समन्तत ।

हिरण्यकशिपुस्तस्मात् कर्मणा तेन स स्मृत ॥ ४ ॥

ऋषय ऊचु —

हिरण्यकशिपोर्नाम नाम चैव महात्मन । प्रभावैव दैत्यस्य विस्तराद् ब्रह्मि न प्रभो ॥

मृत उवाच—

कश्यपस्याश्वमेधोऽभूत् पुण्ये वै पुष्करे तदा । ऋषिभिर्देवताभिश्च गन्धर्वैरपशीभितः ॥ ७ ॥

उन्मुह्येभ्ये च विविना आन्यानादौ यथाविधि । आमनान्युपकल्पानि सौवर्गानि तु पञ्च वै ॥

कुलस्यदापि प्रीष्यत्र कूर्त्तं पटकमेव च । सुगन्धर्विजस्तु चत्वारारणां तान्युपकल्पयन् ॥ ९ ॥

वत्स तत्रामन चैव होतुरर्थे हिरण्यमम् । निधनाद् स गर्भोऽत्र तत्रासीन शशस च ॥ १० ॥

अन्यानामातृभूयैर्ग महर्षि कश्यपो यथा । त इहा ऋषयस्त्वस्य नाम कुर्वन्ति वर्धितम् ॥

हिरण्यकशिपुस्तस्मात् कर्मणा तेन स स्मृत । हिरण्याक्षो नुक्लस्य मिहिका तस्य चानुजा ॥

राहो मा अननी देवी विप्रविसे परिग्रह । हिरण्यकशिपुर्द्वैत्यश्चचार परम तप ॥ १३ ॥

शतं वर्षसहस्राणां निराहारो ह्यधःशिराः । वरयामास ब्रह्माणं तुष्टं दैत्यो वरेण तु ॥ १४ ॥  
 सर्वामरत्वमवधं सर्वभूतेभ्य एव हि । योगाद् देवान् विनिजित्य सर्वदेवत्वमास्थितः ॥ १५ ॥  
 कारयेऽहमिहैश्वर्यं बलवीर्यसमन्वितः । दानवास्त्वसुराश्चैव देवाश्च सह चारणैः ॥ १६ ॥  
 भवन्तु वशगाः सर्वे मत्समीपानुभोजनाः । आर्द्रं शुष्कैरवध्यश्च दिवा रात्रौ तथैव च ॥  
 एवमुक्तस्तदा ब्रह्मानुजश्चे सांप्रतं वरम् ॥ १७ ॥

ब्रह्मोवाचः—

महानयं वरस्तात वृतो दितिमुत त्वया । एहीदानीं प्रतिज्ञानं भविष्यत्येवमेव तु ॥ १८ ॥  
 दत्त्वा चाभिमतं तस्मै तत्रैवान्तरधाद्रथ । सोऽपि दैत्यस्तदा सर्वे जगत्स्थावरजंगमम् ॥ १९ ॥  
 महिम्ना व्याप्य संतस्थे बहुभूतिरभिव्रजित् । स एव तपति व्योम्नि चन्द्रसूर्यत्वमास्थितः ॥  
 स एव वायुभूत्वा च बवौ जगति सर्वदा । स गोपालोऽविपालश्च कर्षकश्च स एव ह् ॥  
 स शता सर्वलोकेषु मन्त्रव्याख्याकरस्तथा । नेता गोप्ता गोपयिता दक्षितो याजकः स तु ॥  
 तस्य देवाः सुराः सर्वे तदासन् सोमपायिनः । एवंप्रभावो दैत्योऽसावतो भूयो निबोधत ॥  
 तस्मै सर्वे नमस्कारं कुर्वन्तीज्यः स एव च । हिरण्यकशिपोर्दैत्यैः श्लोको गीतः पुरा त्विह ॥  
 हिरण्यकशिपू राजा यां यामाशां निरैक्षत । तस्यै तस्यै तदा देवा नमश्चक्रुर्महर्षिभिः ॥ २५ ॥  
 तस्यासीन्नरसिंहस्तु मृत्युर्विष्णुः पुरा किल । नरास्तु यस्माज्जन्मास्य नरभूर्तिश्च यत्प्रभुः ॥ २६ ॥  
 तस्मात् स नरसिंहो वै गीयते वेदवादिभिः । सागरस्य च वेलायामुच्छ्रितस्तपसो विभुः ॥  
 शरीरं तस्य देवस्य ह्यासीद्देवमयं प्रभो । नाग्ना सुदर्शनं चैव विश्रुतश्च महाबलः ॥ २८ ॥  
 ततः स बाहुयुद्धेन दैत्येन्द्रं तं महाबलम् । नखैर्विभेद संक्रुद्धो नार्द्राः शुष्का नखा इति ॥ २९ ॥

हिरण्यकशिपोः पुत्राश्चत्वारः सुमहाबलाः ।

प्रह्लादः पूर्वजर्तपामनुहादस्तथापरः । सहादश्चैव हादश्च हादपुत्रौ निबोधत ॥

सुंदो निसुंदश्च तथा हादपुत्रौ बभूवतुः ॥ ३० ॥

ऊपर उद्धृत किये दोनों उपाख्यानों में न केवल भावसाम्य व्यक्त है अपितु भाषा एवं छन्द का साम्य भी ध्यान को पकड़ लेता है। कश्यप ऋषि अश्वमेध रचते और उसमें होता के लिये एक हिरण्मयासन विद्यते हैं। माता दिति के गर्भ में सैकड़ों वर्ष झाँकने वाला बालक माता के उदर से निकल इस आसन पर आ बैठता है और इस हिरण्मयासन पर बैठने के कारण ही उसका नाम 'हिरण्यकशिपु' पड़ जाता है! इसके अनुज का नाम हिरण्याक्ष एवं बहिन का नाम सिंहिका रखा गया। आगे चलकर यहाँ सिंहिका राहु की जननी बनी।

जन्मजात मनीषी हिरण्यकशिपु ने सैकड़ों वर्ष घोर तप किया और इस अमोघ तपश्चर्या के बल पर उसने ब्रह्मा से अवध्यत्व का वरदान पाया। वर में साफ तौर से मांग की गई थी कि सूखे या गीले किसी भी पदार्थ से उसकी क्षति न होने पावे। ब्रह्मा से दैत्य को वर मिल गया और वर की सफलता के साथ-साथ देवताओं से वैर की भावना भी उसमें बलवती होती गई। यहाँ तक कि कुछ ही काल में वह देवताओं का स्वामी बन

बैठा और सारे ही देवताओं में उस एक की ही प्रतिमा काम करती दीजने लगी। यह अब उनके हो गए और तपस्वरण की प्रक्रिया पर अब उसकी धाक बैठ गई। विश्व का सन्तुर्ग ब्राह्मि कराने लगा। विष्णु का आसन टिठ गया और उन्होंने नृसिंह का अवतार लेकर अपने नखों में दैत्यराज का काम तमाम कर दिया। नख इमी कारण पवित्र बन गए।

हिरण्यकशिपु के चार महावर्गी पुत्र हुए—प्रहाद, अनुहाद, सहाद और हाद। हाद के दो महापराक्रमी पुत्र हुए सुद और निमुन् ।

पुराणों के संशोधन की दृष्टि से दोनों वर्णन अत्यन्त महत्त्व के हैं। इनके श्लोकों की तुलनामक विवेचना में व्यक्त हो जाता है कि किस तरफ पर विवेकहीनता के साथ वर्तमान पुराणों का संकलन किया गया है। उदाहरण के लिये लीजिये हिरण्यकशिपु के पुत्रों की नामावलि को। दोनों पुराणों में यह नाम प्रसार नगण्य भेद के साथ आइ है, किन्तु इन दोनों में मिलने वाला भेद पुराण-संशोधन की दृष्टि में कितने महत्त्व का है।

पाठदृष्टि से तुलना कीजिये वायुपुराण के ५० वें श्लोक की और ब्रह्माण्डपुराण के नवम श्लोक को जिसमें क्रूरसुराधि सभवन कुशभूतानि के स्थान पर है।

दोनों संपादकों में प्रहाद का नाम ही आया है किन्तु नृसिंह भगवान् उनके प्राण के लिये अवतार नहीं धारण करते, अपितु देवता-वर्गों के प्राण हरण के लिये धराधाम पर पधारत हैं।

कूर्मपुराण के १६ वें अध्याय में नृसिंहचरित का वर्णन इस प्रकार है—

देवा ऊचु —

हिरण्यकशिपुर्नाम ब्रह्मर्षो वरदपित । बाधते भगवद्देवो देवान्सर्वान् सहर्षिभि ॥  
 अवध्य सर्वभूताना स्वामृत पुण्योत्तमम् । हृत्सुमर्हमि सर्वेषा प्राणासि त्व जगन्मय ॥  
 शुभा तद्वनैरुक्तं म विष्णुर्लोकमावन । कथाय दैत्यमुत्तमस्य मा सुतपुण्य स्वयम् ॥  
 मेख्यवैतवर्माना घोरास्य मयानकम् । शङ्खवक्रगदाधारि त प्राह गच्छवक्र ॥  
 हत्वा त दैत्यराजान हिरण्यकशिपु पुन । इम श्रेष्ठ समागतुं शिबमर्हमि वीर्यात् ॥  
 निशम्य वैश्व वाक्य प्रणम्य पुण्योत्तमम् । महापुण्यमव्यक्त यवो दैत्यमहापुत्रम् ॥  
 विमुञ्चन् भैरव नाद शङ्खवक्रगदाधर । आरुह्य गच्छ देवो महाभैरवीर्यवर ॥  
 आकर्ष्य दैत्यप्रवरो महाभैरवीर्यवरम् । मम च उरिरि नाद तथा दैत्यवतर्भयम् ॥  
 कश्चिदागच्छति महान् पुण्यो देवतोदित । विमुञ्चन् भैरव नाद त जानीमो जनार्दनम् ॥  
 तत्र महाभैरवीर्यकशिपु स्वयम् । मन्त्रेण मातुने पुत्रं मप्रच्छादेस्त्रदा यवो ॥  
 दृष्ट्वा तं गच्छास्तु मूर्धकोपिमप्रमम् ।

पुण्य पर्वतधार नारायणभिक्षावरम् । हृत्सु केचिन्मयोन्मसु सम्भ्रान्तोचना ॥  
 अर्षे स देवो शैवाना शैवा नारायणे णिपु । अस्माकमव्ययो नून म्सुको वा समागत ॥

इत्युक्त्वा शम्भवर्षाणि सत्तुजुः पुरुषाय ते । स तानि चाक्षतो देवो नाशयामास लीलया ॥  
हिरण्यकशिपोः पुत्राश्चत्वारः प्रथितौजसः । पुत्रं नारायणोद्भूतं युयुधुर्मेघनिःस्वनाः ॥

प्रह्लादश्चानुहादश्च संहादो हाद एव च ॥

प्रह्लादः प्राहिणोद् ब्राह्ममनुहादोऽथ वैष्णवम् । संहादश्चापि कौमारमाग्नेयं हाद एव च ॥  
नानि तं पुरुषं प्राप्य चत्वार्यस्त्राणि वैष्णवम् । न शेकुश्चालितुं विष्णुं वासुदेवं यथातथम् ॥  
अथासौ चतुरः पुत्रान् महाबाहुर्महाबलः । प्रगृह्य पादेषु करैश्चिक्षेप च ननाद च ॥  
विमुक्तेष्वथ पुत्रेषु हिरण्यकशिपुः स्वयम् । पादेन ताटयामास वेगेनोरसि तं वली ॥  
स तेन पीडितोऽत्यर्थं गरुडेन सहानुगः । अदृश्यः प्रययौ तूर्णं यत्र नारायणः प्रभुः ॥  
गत्वा विद्यापयामास प्रवृत्तमखिलं तदा । सञ्चिन्त्य मनसा देवः सर्वज्ञानमयोऽमलः ॥  
नरस्यार्द्धतनुं कृत्वा सिंहस्यार्द्धतनुं तथा । नृसिंहवपुरव्यक्तो हिरण्यकशिपोः पुरे ॥  
आविर्बभूव सहसा मोहयन्दैत्यदानवान् । दंष्ट्राकरालो योगात्मा युगान्तदहनोपमः ॥  
समारुहात्मनः शक्तिं सर्वसंहारकारिकाम् । भाति नारायणोऽनन्तो यथा मध्यंदिने रविः ॥  
दृष्ट्वा नृसिंहं पुरुषं प्रह्लादं ज्येष्ठपुत्रकम् । वधाय प्रेरयामास नरसिंहस्य सोऽसुरः ॥  
इमं नृसिंहं पुरुषं पूर्वस्माद्गूढशक्तिकम् । सहैव तेऽनुजैः सर्वैर्नाशयाञ्चु मयेरितः ॥  
स तन्नियोगादसुरः प्रह्लादो विष्णुमव्ययम् । युयुधे सर्वयत्नेन नरसिंहेन निर्जितः ॥  
ततः सन्मोहितो दैत्यो हिरण्याक्षस्तद्वानुजः । ध्यात्वा पशुपतेरस्त्रं ससर्ज च ननाद च ॥  
नस्य देवाधिदेवस्य विष्णोरमिततेजसः । न हानिमकरोदस्त्रं यथा देवस्य शूलिनः ॥  
दृष्ट्वा पराहतं त्वस्त्रं प्रह्लादो भाग्यगौरवात् । मेने सर्वात्मकं देवं वासुदेवं सनातनम् ॥  
सन्त्यज्य सर्वशस्त्राणि सत्त्वयुक्तेन चेतसा । ननाम शिरसा देवं योगिनां हृदयेशयम् ॥  
स्तुत्वा नारायणं स्तोत्रैः ऋग्यजुःसामसम्भवैः । निवार्य पितरं भ्रातृन् हिरण्याक्षं तदाब्रवीत् ॥  
अयं नारायणोऽनन्तः शाश्वतो भगवानजः । पुराणः पुरुषो देवो महायोगी जगन्मयः ॥  
अयं धाता विधाता च स्वयंज्योतिर्निरञ्जनः । प्रधानं पुरुषं तत्त्वं मूलप्रकृतिरव्यया ॥  
ईश्वरः सर्वभूतानामन्तर्यामी गुणातिगः । गच्छध्वमेनं शरणं विष्णुमव्यक्तमव्ययम् ॥  
एवमुक्ते सुदुर्बुद्धिः हिरण्यकशिपुः स्वयम् । प्रोवाच पुत्रमत्यर्थं मोहितो विष्णुमायया ॥  
अयं सर्वात्मना बध्यो नृसिंहोऽल्पपराक्रमः । समागतोऽस्मद्भवनमिदानीं कालचोदितः ॥  
विहस्य पितरं पुत्रो वचः प्राह महामतिः । मा मिन्दस्वैनमोशानं भूतानामेकमव्ययम् ॥  
कथं देवो महादेवः शाश्वतः कालवर्जितः । कालेन हन्यते विष्णुः कालात्मा कालरूपधृक् ॥  
ततः सुवर्णकशिपुर्दुरात्मा कालचोदितः । निवारितोऽपि पुत्रेण युयुधे हरिमव्ययम् ॥  
संरक्तनयनोऽनन्तो हिरण्यनयनाग्रजम् । नखैर्विदारयामास प्रह्लादस्वैव पश्यतः ॥  
हते हिरण्यकशिपो हिरण्याक्षो महाबलः । विसृज्य पुत्रं प्रह्लादं दुद्रुवे भयविह्वलः ॥  
अनुह्लादादयः पुत्रा अन्ये च शतशोऽसुराः । नृसिंहदेह-सम्भूतैः सिंहैर्नीता यमक्षयन् ॥  
ततः संहत्य तद्रूपं हरिर्नारायणः प्रभुः । त्वमेव परमं रूपं ययौ नारायणाह्वयम् ॥  
गते नारायणे दैत्यः प्रह्लादोऽसुरसत्तमः । अभिषेकेण युक्तेन हिरण्याक्षमयोजयत् ॥



म बाधयामास सुरात्रये जित्वा मुनीन्पि । लब्ध्वाऽन्धक महापुत्र तपसाराध्य शंकरम् ॥  
 देवाञ्चान्वा सदेवेन्द्रान् सुभ्रुव्वा च धरणीमिमाम् । नीत्वा रसातल चक्रे वेदान्त्रै निष्प्रभास्तथा ॥  
 ततः सप्तदशका देवा परिभ्रान्मुगध्रिय । गत्वा विशापथामासुर्विष्णवे हरिमन्दिरम् ॥  
 स चिन्तयित्वा विश्वात्मा तद्गोधोभयमव्ययः । सर्वदेवमय शुभ्र वाराहञ्च पुरा दधे ॥  
 गत्वा हिरण्यनयन इत्वा त पुरोत्तम । दग्धोद्धारयामास कल्पादौ धरणीमिमाम् ॥  
 त्यक्त्वा वाराहसस्थान सस्थाप्यैव सुरद्विषः । स्वामेव षड्गतिं दिव्या ययौ विष्णुः पर पदम् ॥  
 तस्मिन्हृतेऽमरिषी प्रह्लादो विष्णुत्तरः । अपालयत्स्वकं राज्य भाव त्यक्त्वा नदासुरम् ॥  
 यज्ञते विषिर्देवान् विष्णोराराधने रतः । नि मयत्न सदा राज्य नस्यासीद् विष्णुवैभवात् ॥  
 ततः कदाचिदसुरो ब्राह्मण गृहमागतम् । न च मम्भाषयामास देवानाञ्चैव मायया ॥  
 म तेन तापसोऽत्यर्थं मोहितेनावमानितः । शशापासुरराजान क्रोधमरत्स्लोचनः ॥  
 यच्छद् बल समाश्रित्य ब्राह्मणानवमन्यैमे । मा शक्तिर्वैष्णवी दिव्या विनाश ने गमिष्यति ॥  
 इत्युक्त्वा प्रययौ तूर्णं प्रह्लादस्य गृहाद् द्विज । सुमोह राज्यमसक्तं मोडयि शापबलात्ततः ॥  
 बाधयायास विप्रेन्द्रात्र विवेद अनादंनम् । पितुर्वधमनुस्मृत्य क्रोध चक्रे हरिं प्रति ॥  
 नयो ममभवद् युद्धं सुधोर रोमहर्षणम् । नारायणस्य देवस्य प्रह्लादस्यामरद्विषः ॥  
 कृत्वा म मुमहद् युद्धं विष्णुना तेन निर्जितः । पूर्वमस्कारमाहात्म्यात् पररिमन् पुरुषे हरी ॥  
 सञ्जान नस्य विशान शरण्य शरण ययौ ॥

ततः प्रभृति दैत्येन्द्रो धनन्या भक्तिमुदहन् । नारायणो महायोगमवाप पुरुषोत्तमे ॥

हिरण्यकशिपु के भत्याचारों से उद्वेजित हो देवगण विष्णु भगवान् की शरण में पहुँचे और उन्होंने उनसे प्रार्थना की कि भगवन् ! दैत्यराट् के चक्रुल से जगती की रक्षा कीजिये ।

देवताओं के आर्त वचन को सुन कर भगवान् विष्णु ने मेरुपर्वतान्तर शङ्ख-चक्र गदाधारी महा भैरव को दैत्यराज के महार के लिये पठाया । यह महापुत्र दैत्यराज की पुरी में आया और हमने वहाँ के दैत्यपुत्रों को प्रचार । तुमल युद्ध हुआ, किंतु हिरण्यकशिपु के प्रह्लाद भादि चारों पुत्र महापुत्र का बाल बाल न कर सके, उन्हें, उसकी मार से कातर हो वे समराङ्ग से भाग खड़े हुए । इस पर दैत्यराज ने स्वयं महापुत्र से लोहा लिया और उसने उसके वध स्थल में पत्नी लात मारी कि वह रण में पराङ्मुख हो विष्णु भगवान् की शरण में भाग निकला । महापुत्र की पराजय को सुन कर विष्णु भगवान् स्वयं नृसिंह का रूप धारण करके राश्रुओं से जूझने आए । उन्हें देव दैत्यराज ने अपने पुत्र प्रह्लाद को उनसे लोहा लेने के लिये पठाया । दोनों का [मुल इन्द्र हुआ; प्रह्लाद मार गकर भाग खडा हुआ । उसे मान हो गया कि उसका मित्र-दी मर्त्य नहीं अपि तु स्वयं विष्णु भगवान् हैं । वह उनकी स्तुति करने लगा और उसे बदने दिता को भी युद्ध से वारत हो उनकी शरण में जाने को मन्हा दी; किंतु

दैत्यराज तो मद में चूर था ; बोला कि तुम सब कायर हो ; मैं अकेला इस नराधम को यमलोक पठाऊंगा । ऐसा कह कर भयंकर गजना करता हुआ वह नृसिंह पर चढ़ दौड़ा ; किंतु वात्या की चढ़ाई से पहाड़ का क्या विगड़ता ? नृसिंह ने एक ही चपेट में उसके वक्ष को चीर डाला और इस प्रकार उसके आतंक से धरती माता का उद्धार किया ।

हिरण्यकशिपु को इस प्रकार मरा देख उसका भाई हिरण्याक्ष भाग निकला और अंध वहां केवल प्रह्लाद रह गया । कुछ काल पश्चात् प्रह्लाद ने अपने पितृव्य हिरण्याक्ष का राज्याभिषेक कर स्वयं विष्णु की आराधना आरंभ कर दी । सुख पाकर गर्वा कौन नहीं जाता ? हिरण्याक्ष ने शंकर के वरदान से अन्धक नाम का पुत्र पाकर देवताओं को सालना आरंभ कर दिया । देवता रो पड़े । उनकी टेर को सुन कर विष्णु भगवान् ने वराहावतार धारण कर उससे जगत् की रक्षा की । पितृव्य के दिवंगत हो जाने पर प्रह्लाद ने राज्य की वागडोर अपने हाथ संभाली । राजकाज का प्रपञ्च समझो अथवा स्वाभाविक वैभवमद ! राजा प्रह्लाद एक ब्राह्मण का निरादर कर बैठा । ब्राह्मण के मुंह से निकले शाप ने सांप बन कर प्रह्लाद को असंज बना दिया और अब वह भी प्रजा को सताने पर उतारू हो गया । विष्णु भगवान् से न रहा गया । वे आए और दोनों का रोमहर्षण द्वन्द्व हुआ । प्रह्लाद की हेठी हुई और तब वह फिर से भगवान् विष्णु का सच्चा आराधक बन गया ।

कूर्मपुराण का यह उपाख्यान रोचक तत्त्वों का पुट से खिल उठा है । इसमें शंख-चक्र-गदाधारी महापुरुष का दैत्यराज के साथ लड़ने के लिये आना और उसका संहार करने में उनकी अक्षमता नृसिंहावतार की गरिमा में चार चांद लगा देते हैं और इस बात से उनके ओज एवं शौर्य में अनोखा पूर आ जाता है । नृसिंह के हाथों प्रह्लाद को पराजय उसकी आन्तरिक दृष्टि को खोल देती है और उसे परम तत्त्व का अनायास ही भान हो जाता है । राजगद्दी पर बैठ कर प्रह्लाद भी ब्राह्मण का निरादर कर देता है—‘प्रभुता पाय काहि मद नाहीं’ तो इसे ही कहते हैं । भक्त को आंख खोलने भगवान् तुरंत आते और जब आसानी से वे उसे नहीं जगा पाते तब कर्कश प्रहारों से वे उसकी नाँद को दूर करते हैं । उन्निद्र प्रह्लाद फिर से भगवान् की आराधना में लग जाता है ।

स्पष्ट है कि कूर्मपुराण का यह उपाख्यान पहले वर्णित उपाख्यानों से कहीं आगे निकल गया है ; क्योंकि जहां उनमें प्रह्लाद का नाम-संकेतन मात्र था वहां इस उपाख्यान में प्रह्लाद प्रतिनायक का भाग अदा करते हैं और वे अपने पिता के कहने पर विष्णु भगवान् से खुल कर लोहा लेते हैं । किंतु इस उपाख्यान में भी प्रह्लाद का पिता उसे यंत्रणा नहीं देता—यह सब तो वाद की बातें हैं—इनके उद्भावन में ही प्रस्तुत रचना की गरिमा सन्निहित है ।

मत्स्यपुराण में नृसिंहोपाख्यान का पाखंड भर जाती है और वह अपने प्रपूर्ण कलेवर में सज कर हमारे संमुख आता है । मत्स्यपुराण के ६६१ वें अध्याय में यह उपाख्यान इस प्रकार आरंभ होता है :—

ऋषय ऊचु —

इदानीं श्रोतुमिच्छामि हिरण्यकशिपोर्वंधम् । नरभिदस्य माहात्म्य तथा पावविनाशनम् ॥

सून उवाच—

पुरा कृतयुगे विशा हिरण्यकशिपुं प्रभु । दैत्यानामादिपुण्यश्चकार स महत्तपः ॥ २ ॥  
 दशवर्षसहस्राणि दत्तापन्नानि च । जल्पामी समभवत्सनानमौनधृतप्रतः ॥ ३ ॥  
 नत शमदमाभ्यां च भद्रचर्येण चैव हि । ब्रह्मा प्रीतोऽभवत्तस्य तपसा नियमेन च ॥ ४ ॥  
 नत स्वयभूर्भगवान् स्वयमागम्य तत्र हि । विमानेनाकंवापन इमयुक्तन भास्वता ॥ ५ ॥  
 आदित्वैर्वसुभि मायेमंग्रिदेवैस्तथा । ऋद्विंश्वमहायैश्च यक्षराक्षसपन्नगैः ॥ ६ ॥  
 दिग्भिश्चैव विदिग्भिश्च नदीभि सागरैस्तथा । नक्षत्रैश्च मुहूर्तैश्च संचरैश्च महाग्रहैः ॥ ७ ॥  
 देवैर्ब्रह्मपिभि मायैर्मिदं सप्तपिभिस्तथा । राजपिभि पुण्यदृङ्मिर्गन्धर्वाप्सरसां गणैः ॥ ८ ॥  
 चराचरगुण धीमान् धृत सर्वैर्दिवोकमैः । ब्रह्मा ब्रह्मविदां श्रेष्ठो दैत्य वचनममवीत् ॥ ९ ॥  
 प्रीतोऽस्मि तव मत्तस्य तपसाऽनेन सुप्रत । वर वरय भद्र ते यथेष्ट काममाप्नुहि ॥ १० ॥

हिरण्यकशिपुर्वाच—

न देवानुरगन्धर्वा न यक्षोरगराक्षसाः । न मानुषाः भिक्षाचा वा ह्यनुर्मा देवमत्तम् ॥ ११ ॥  
 ऋषयो वा न मा शपिः शपेयु प्रवितामह । यदि मे भगवान् प्रीतो वर ष्व धृतो मया ॥ १२ ॥  
 न चाभेग न शस्त्रेण गिरिणा पादपेन च । न नुष्केण न चाद्रैग न दिवा न निशाऽप्यवा ॥  
 भवेयमहमेवावैः सोमो वातुर्हुताशन । मण्डिल चान्तरिक्ष च नक्षत्राणि दिशोदश ॥ १४ ॥  
 अह क्रोरश्च घामश्च वग्णो वामवो यमः । धनदद्व घनाप्यशो यश्च विपुष्पाधिप ॥ १५ ॥

ब्रह्मोवाच—

एते दिव्या वरास्तत्र मया दत्तास्तवाद्मुता ।

सर्वांन्धानान्मदा वत्स प्राप्स्यसि त्व न मशय ॥ १६ ॥

एवमुक्त्वा स भगवाञ्जगानाकाश एव हि । वैराज ब्रह्ममदनं ब्रह्मपिगमेवितम् ॥ १७ ॥

ततो देवाश्च नागाश्च गन्धर्वा ऋषिभिः सह । वरप्रदान शुभैव वितामहमुपरिषत्ता ॥ १८ ॥

देवा ऊचु —

वरप्रदानाद् भगवन् बधिष्यति स नोऽमुरः ।

तत्प्रसीदानु भगवन् बधोऽप्यस्य विचिन्त्यतान् ॥ १९ ॥

भगवन्सर्वभूतानामादिकर्ता स्वय प्रभु । स्रष्टा एव ह्यव्यक्तध्यानामव्यक्तप्रकृतिकुंभा ॥ २० ॥

सर्वैर्लोमरित बाभ्य शुक्ला देवः प्रजापतिः । आशामयामाम सुगान् सुधावैर्वचनान्मुभिः ॥

अवदन विदशाप्रेन प्राप्तव्य तपसा फलन् । तपसोऽन्देऽस्य भगवान् वध विगुः करिष्यति ॥

तच्छ्रुत्वा विपुषा वाक्य सर्वे पशुव्रजमननः ।

स्थानि स्थानानि दिव्यानि विप्रजग्मुर्मुदाविताः ॥

स्वभगाव वरे वाप सर्वाः सोऽराधत्र प्रजाः । हिरण्यकशिपुर्देवो वरदानेन दपित ॥ २४ ॥

आश्रमेषु महाभागान् स मुनीन्ध्रंसितव्रतान् । सत्यधर्मपरान्दान्तान् धर्षयामास दानवः ॥  
 देवास्त्रिभुवनस्थांश्च पराजित्य महासुरः । त्रैलोक्यं वशमानीय स्वर्गे वसति दानवः ॥ २६ ॥  
 यदा वरमदोस्सिक्तश्चोदितः कालधर्मतः । यज्ञियानकरोदैत्वान् अयज्ञियाश्च देवताः ॥ २७ ॥  
 तदादित्याश्च साध्याश्च विद्वे च वसवस्तथा । सेन्द्रा देवगणा यक्षाः सिद्धद्विजमहर्षयः ॥  
 शरण्यं शरणं विष्णुमुपतस्थुर्भहावलम् । देवदेवं यज्ञमयं वासुदेवं सनातनम् ॥ २९ ॥

देवा ऊचुः—

नारायण महाभाग देवास्त्वां शरणं गताः । त्रायस्व जहि दैत्येन्द्रं हिरण्यकशिपुं प्रभो ॥ ३० ॥  
 त्वं हि नः परमो धाता त्वं हि नः परमो गुरुः ।  
 त्वं हि नः परमो देवो ब्रह्मादीनां सुरोत्तम ॥ ३१ ॥

विष्णुस्वाच—

भयं त्यजध्वममरा अभयं वो ददाम्यहम् । तथैव त्रिदिवं देवाः प्रतिपद्यत मा चिरम् ॥ ३२ ॥  
 षोडशं सगणं दैत्यं वरदानेन दर्पितम् । अवध्यममरेन्द्राणां दानवेन्द्रं निहन्यहम् ॥ ३३ ॥  
 एवमुक्त्वा तु भगवान् विसृज्य त्रिदशेश्वरान् । वधं सकल्पयामास हिरण्यकशिपोः प्रभुः ॥  
 साहाय्यं च महाबाहुरोकारं गृह्य सत्वरम् । अथोङ्कारसहायस्तु भगवान् विष्णुरव्ययः ॥ ३५ ॥  
 हिरण्यकशिपुस्थानं जगाम हरिरीश्वरः । तेजसा भास्कराकारः शशीकान्त्येव चापरः ॥ ३६ ॥  
 नरस्य कृत्वाऽर्धतनुं सिंहस्यार्धतनुं तथा । नरसिंहेन वपुषा पाणिं संस्पृश्य पाणिना ॥ ३७ ॥

ततोऽपश्यत विस्तीर्णां दिव्यां रम्यां मनोरमाम् ।

सर्वकामयुतां शुभ्रां हिरण्यकशिपोः सभाम् ॥ ३८ ॥

विस्तीर्णां योजनशतं शतमध्यर्धमायताम् । वैहायसीं कामगमां पद्मयोजनविस्तृतान् ॥  
 जराशोकक्लमपेतां निष्प्रकर्म्पां शिवां सुखाम् । वेश्महर्मवतीं रम्यां ज्वलन्तीमिव तेजसा ॥  
 अन्तःसलिलसंयुक्तां विहितां विश्वकर्मणा । दिव्यरत्नमयैर्वृक्षैः फलपुष्पप्रदैर्जुतान् ॥ ४१ ॥  
 नीलपीतसितश्यामैः कृष्णैर्लोहितकैरपि । अवतानैस्तथा गुल्मैर्नजरीशतधारिभिः ॥ ४२ ॥  
 मिताभ्रघनसङ्काशा प्लवन्तीव व्यदृश्यत । रश्मिवती भास्वरा च दिव्यगन्धमनोरमा ॥ ४३ ॥

सुसुखा न च दुःखा सा न शीता न च धर्मदा ।

न क्षुत्पिपासे ग्लानिं वा प्राप्य तां प्राप्नुवन्ति ते ॥ ४४ ॥

अति चन्द्रं च सूर्यं च शिखिनं च स्वयंप्रभा । दीप्यते नाकपृष्ठस्था मासयन्तीव भास्करम् ॥ ४५ ॥  
 सर्वे च कामाः प्रचुराः ये दिव्या ये च मानुषाः । रसयुक्तं प्रभूतं च भक्ष्यभोज्यमनन्तकम् ॥ ४६ ॥  
 पुण्यगन्धस्रजश्चात्र नित्यपुष्पफलद्रुमाः । तष्णे शीतानि तोयानि शीते चोष्णानि सन्ति च ॥ ४७ ॥  
 पुष्पिताया महाशाखाः प्रवालाङ्कुरधारिणः । लतावितानसंखन्ना नदीसु च सरःसु च ॥ ४८ ॥  
 वृक्षान्बहुविधास्तत्र सृगेन्द्रो ददृशे प्रभुः । गन्धवन्ति च पुष्पाणि रसवन्ति फलानि च ॥ ४९ ॥  
 नातिशीतानि नौष्णानि तत्र तत्र सरांसि च । अपश्यत् सर्वतीर्थानि समायां तस्य स प्रभुः ॥  
 सुकान्तैर्भार्तिराश्रैश्च राजहंसैश्च सुप्रियैः । कारण्टवैश्चक्रवाकैः सारसैः कुररैरपि ॥ ५१ ॥

विमले स्फुटिकाभेऽ पाण्डुरच्छदनेदिजे । बहुसोपगीतानि सारसामिरतानि च ॥ ५२ ॥  
 नानापुष्पानोपेना वराजन्त समन्त । चकोरा शनपथाश्च मत्तकोकिलसारिका ॥ ५३ ॥  
 पुष्पिता पुष्पिताग्रैश्च सम्पतति महाद्रुमा । रत्नपीताहणास्तत्र पादपात्रगता रगा ॥ ५४ ॥  
 परस्परमवेश्मते प्रकृष्टा जीवजीवका । तस्या समाया दैत्येद्रो हिरण्यकशिपुस्तदा ॥ ५५ ॥  
 श्वोसहस्रे परिवृतो विचित्राभरणभार । अनर्ध्वमगिवज्राचि शिवाञ्ज्वलितकुण्डल ॥ ५६ ॥  
 आमीनाश्रामने चित्र दशनस्त्रप्रमाणत । दिवाकरनिभे दिव्ये दिव्यास्तरणसंस्तृते ॥ ५७ ॥  
 दिव्यगन्धवहस्तत्र मान्त मुमुक्षो ववौ । हिरण्यकशिपुर्देत्य आरते ज्वलितकुण्डल ॥ ५८ ॥  
 उपवेश्मर्हादैत्य हिरण्यकशिपु तदा । दिव्यतानेन गीतानि जगुर्गन्धर्वसत्तमा ॥ ५९ ॥  
 विश्वाची सहजया च प्रम्योचेत्यभिविश्रुता । दिव्याऽथ मोरभेयी च समीची पुञ्जकरधरी ॥  
 निश्रकेशी च रम्भा च चित्रनेला गुबिरिमता ।

चारुकेशी घृताची च मेनका चोर्वशी तथा ॥ ६१ ॥

यता महस्रशश्रान्या नृत्यगीतविशारदा । उपनिष्ठति राजान हिरण्यकशिपुत्र प्रभुम् ॥ ६२ ॥  
 नयाऽऽसीन महाबाहु हिरण्यकशिपु प्रभुम् । उपामते दिते पुत्रा सर्वे लम्भवरास्तथा ॥ ६३ ॥  
 तमप्रतिमकर्माण शनशोऽथ सहस्रश । बलिर्विरोचनस्तत्र नरवः पृथिवीसुत ॥ ६४ ॥  
 प्रहाणो विप्रचित्तिश्च गविष्ठश्च महासुर । सुरहन्ता सुनामा च प्रमति सुमतिर्वर ॥ ६५ ॥  
 घण्टोदरो महापार्श्व क्रयन पिठरस्तथा । विश्वरूप सुरूपश्च स्वबलश्च महाबल ॥ ६६ ॥  
 दशग्रीवश्च वाणी च भेषवासा महासुर । घटास्योज्ज्वलनश्चैव प्रजनक्षेत्रतापन ॥ ६७ ॥  
 दैत्यदानवसत्वरते सर्वे ज्वलितकुण्डला । स्रग्विणो वाग्मिन सर्वे सर्वे चरित्तत्रा ॥ ६८ ॥  
 सर्वे लम्भवरा शूरा सर्वे विगतमृत्यव । एते चादे च बहवो हिरण्यकशिपु प्रभुम् ॥ ६९ ॥  
 उपामन्ति महामान सर्वे दिव्यपरिच्छदा । विमानविधिषाकारैर्भ्राजमानैरिवाग्निभि ॥ ७० ॥  
 मह द्रवपुण सर्वे विप्रिग्राहदबाहव । भूतिनाज्ञा णित पुत्रास्तमुपामन्त सवश ॥ ७१ ॥  
 तरया समाया दिव्यायामसुरा पर्वतोपमा । हिरण्यकशिपु सर्वे दिवाकरसमप्रमा ॥ ७२ ॥  
 न क्षतनेव दृष्ट हि हिरण्यकशिपोर्वपा । ऐश्वर्यं दैत्यभिहस्य यथा तरय महाभ्रन ॥ ७३ ॥

## अथ द्विपृथगधिकृततमोऽध्यायः

सून उवाच—

गतो दृष्ट्वा महाभान कालचक्रमिवात्तम् । नरमिहवपुदसन्न भस्मच्छत्रभिवानरम् ॥ १ ॥  
 हिरण्यकशिपो पुत्र प्रहादो नाम बौर्यवान् । दिव्येन चतुषा मिहमपश्यद्देवमागतम् ॥ २ ॥  
 त दृष्ट्वा स्मदीलाभमूर्खा तनुमाश्रितम् । विभिन्ना दानवा सर्वे हिरण्यकशिपुदच स ॥ ३ ॥

प्रहाद उवाच—

महबाहो महाराज दैत्यानामादिसमव । न क्षत एव नो दृष्ट नारमिहमिदं वपु ॥ ४ ॥  
 प्रव्यत्तप्रमद दिव्यं विभिर्दं स्तमपगतम् । दैत्यान्करणघोरं शश्रीन मनो मम ॥ ५ ॥

अस्य देवाः शरीरस्थाः सागराः सरितश्च याः । हिमवान्पारियात्रश्च ये चान्ये कुलपर्वताः ॥  
चन्द्रमाश्च सनक्षत्रैरादित्यैर्वसुभिः सह । धनदो वरुणश्चैव यमः शक्रः शचीपतिः ॥ ७ ॥  
मरुतो देवगन्धर्वा ऋषयश्च तपोधनाः । नागा यक्षाः पिशाचाश्च राक्षसा भीमविक्रमाः ॥ ८ ॥  
ब्रह्मा देवः पशुपतिर्ललाटस्था भ्रमन्ति वै । स्थावराणि च सर्वाणि जङ्गमानि तथैव च ॥ ९ ॥  
भवांश्च सहितोऽस्माभिः सर्वैर्देत्यगणैर्वृतः । विमानशतसंकीर्णा तथैव भवतः समा ॥ १० ॥  
सर्वे त्रिभुवनं राजल्लोकधर्माश्च शाश्वताः । दृश्यन्ते नारसिंहेऽस्मिन् तथेदमखिलं जगत् ॥

प्रजापतिश्चात्र मनुर्महात्मा ग्रहाश्च योगाश्च महीरुहाश्च ।

उत्पातकालश्च धृतिर्मतिश्च रतिश्च सत्यं च तपो दमश्च ॥ १२ ॥

सनत्कुमारश्च महानुभावो विश्वे च देवाः ऋषयश्च सर्वे ।

क्रोधश्च कफायश्च तथैव हर्षो धर्मश्च मोहः पितरश्च सर्वे ॥ १३ ॥

ग्रहादस्य वचः श्रुत्वा हिरण्यकशिपुः प्रभुः । उवाच दानवान्सर्वान् गणांश्च स गणाधिपः ॥  
सृगेन्द्रो गृह्यतामेष अपूर्वा तनुमाधितः । यदि संशयः कश्चिद् वध्यतां वनगोचरः ॥ १५ ॥  
ते दानवगणाः सर्वे सृगेन्द्रं भीमविक्रमम् । परिक्षिपन्तो मुदितास्त्रासयामासुरोजसा ॥ १६ ॥  
सिंहनादं विमुच्याथ नरसिंहो महाबलः । वभञ्ज तां समां दिव्यां व्यादितास्य श्वान्तकः ॥

समायां भज्यमानायां हिरण्यकशिपुः स्वयम् ।

विक्षेपास्त्राणि सिंहस्य रोषाद् व्याकुललोचनः ॥ १८ ॥

सर्वास्त्राणामथ ज्येष्ठं दण्डमन्त्रं सुदारुणम् । कालचक्रं तथाऽघोरं विष्णुचक्रं तथा परम् ॥ १९ ॥  
पैतामहं तथात्युग्रं त्रैलोक्यदहनं महत् । विचित्रामशानिं चैव शुष्कार्द्रं चाशनिद्वयम् ॥ २० ॥  
रौद्रं तथोग्रं शूलं च कङ्कालं मुसलं तथा । मोहनं शोषणं चापि संतापनविलापनम् ॥ २१ ॥  
वायव्यं मथनं चैव कापालमथ कैकरम् । तथाऽप्रतिहतां शक्तिं क्रौञ्चमस्त्रं तथैव च ॥ २२ ॥  
अस्त्रं ब्रह्मशिरश्चैव सोमास्त्रं दशिरं तथा । कम्पनं शातनं चैव त्वाष्ट्रं चैव सुभैरवम् ॥ २३ ॥  
कालमुद्गरमक्षोभ्यं तपनं च महाबलम् । संवर्तनं मोहनं च तथा मायाधरं परम् ॥ २४ ॥  
गान्धर्वमखं दयितमसिरत्नं च नन्दकम् । प्रस्वापनं प्रमथनं वारुणं चाखमुत्तमम् ॥

अस्त्रं पाशुपतं चैव यस्याप्रतिहता गतिः ॥ २५ ॥

अखं ह्यशिरश्चैव ब्राह्ममस्त्रं तथैव च । नारायणाखमैन्द्रं च सार्पमस्त्रं तथादभुतम् ॥ २६ ॥  
पैशाचमखमजितं शोषदं शामनं तथा । महाबलं भावनं च प्रस्थापनविकम्पने ॥ २७ ॥  
एतान्यस्त्राणि दिव्यानि हिरण्यकशिपुस्तदा । असृजन्नरसिंहस्य दीप्तस्याग्नेरिवाऽऽहुनिम् ॥  
अस्त्रैः प्रज्वलितैः सिंहमावृणोदसुरोत्तमः । विवस्वान् धर्मसमये हिमवन्तमिवांशुभिः ॥  
स षमर्षानिलोद्भूतो दैत्यानां सैन्यसागरः । क्षणेन प्लावयामास मैनाकमिव सागरम् ॥

ते दानवाः पाशगृहीतहस्ताः महेन्द्रतुल्याशनिवज्रवेगाः ।

समन्ततोऽभ्युद्यतवाहुकायाः स्थितास्त्रिशीर्षा इव नागपाशाः ॥ ३१ ॥

सुवर्णमालाकुलभूषिताङ्गाः पीतांशुकामोगविभाविताङ्गाः ।

मुक्तावलीदामसनाथकक्षाः हंसा इवाऽऽभान्ति विशालपक्षाः ॥ ३२ ॥

क्षिरक्षिप्रैर्ज्वलितमंहाबलमंहास्त्रयुगी सुममावृतो बभौ ।  
 गिरियंथा सननवर्षिभिर्घनैः कृतान्धकारान्तरकन्दरो द्रुमैः ॥ ३३ ॥  
 तेहन्यमानोऽपि महास्त्रजालमंहाबलदैत्यगणे समेतैः ।  
 नाऽकम्पनाऽऽञ्जो भगवान् प्रनापस्थित प्रकृत्या हिमवानिवाचलः ॥ ३४ ॥  
 सत्रासितास्तेन नर्मिहरूपिणा दिते मुक्ता पावकतुल्यनेत्रमा ।  
 मयादिवेत्तु पवनोद्भुताङ्गा यथोर्मयः सागरवारिसमवा ॥ ३५ ॥

### अथ त्रिपष्टचधिकशनतमोऽध्यायः

हिरण्यवशिपुर्दैत्यो भूयः प्रासृजद्रुजितान् । शक्तिप्रज्वलितापोराधीनशसनद्विप्रभाम् ॥ १ ॥  
 तामापनन्ती सप्रेक्ष्य मृगेन्द्र शक्तिमुज्ज्वलाम् । हुकारेणैव रौद्रेण बभञ्ज भगवांस्त्वदा ॥ २ ॥  
 रराञ्ज भग्ना सा शक्तिमृगेन्द्रेण महीतले । सविस्फुल्लिगा ज्वलिता महोत्केत्र दिवच्छतुना ॥  
 नाराचपक्तिः मिहस्य प्राप्ता रेजेऽविदूरतः । नीलोत्पलपलाशाना मालेवोऽज्वलदर्शना ॥ ४ ॥  
 स गर्जित्वा यथान्याय विक्रम्य च यथासुखम् । तत्तमैन्यमुत्सारितवान् वृगाप्राणीव मान् ॥  
 ततोऽश्मवर्षं दैत्येन्द्रा व्यसृजन् नभोगताः । नगमात्रे शिखारण्डैर्गिरिशृङ्गैर्महाप्रभैः ॥ ६ ॥  
 तदाऽदमौषैर्दैत्यगणाः पुनः मिहमरिदमम् । छादयन्त्रिरे मेघा धाराभिरिव पर्वनम् ॥  
 न च स चालयामासुर्दैत्यीषा देवमत्तमम् । भीमवेगोऽचलश्रेष्ठं समुद्र इव मन्दरम् ॥ ८ ॥  
 ततोऽश्मवर्षे विहते जलवर्षमनन्तरम् । धाराभिरक्षमात्राभिः प्रादुरामीत्ममन्ततः ॥ ९ ॥  
 नमस प्रच्युता धारारित्गमवेगाः समन्ततः । आश्रुत्य सर्वनो व्योम दिशश्चोपदिशस्तथा ॥  
 धारा दिवि च सर्वत्र वभुधाया च सर्वशः । न सृशानि च सा देव निपतन्त्योऽनिश मुवि ॥  
 बाह्यतो वभुमुर्वं नोपरिहास्य वभुयुः । मृगेन्द्रप्रतिरूपस्य स्थितस्य शुधि मायया ॥ १२ ॥  
 इतेऽश्मवर्षे तुमुले जलवर्षे च शोषिते । सोऽसृजद्दानवो मायामग्निबायुसमीरिताम् ॥ १३ ॥  
 महेन्द्रस्नोयदैः सार्धं सहसाश्चो महाधृतिः । महता तोयवर्षेण समयामास पावकम् ॥ १४ ॥  
 तस्यां प्रतिहतायां तु मायाया शुधि दानवः । असृजद्विषोरसङ्काश तमस्तीव्र समन्ततः ॥  
 तममा सवृते लोके दैत्येष्वात्तापुषेषु च । स्वतेजसा परिवृतो दिवाकर इवाशभौ ॥ १६ ॥  
 त्रिशिखीं मृकुटिं चास्य वृद्धसुदीनवा रणे । ललाटस्था त्रिशूलाङ्गा गता त्रिययगाभिव ॥ १७ ॥  
 ततः सर्वास्तु मायास्तु हतास्तु दिक्तिनन्दनाः । हिरण्यवक्षशिपुर्दैत्य विवर्णा शरण दयुः ॥ १८ ॥  
 ततः प्रज्वलितः क्षोषात् प्रदहन्निव तेजसा । तरिमन्मुद्गे तु दैत्येन्द्रे तमोभूतमभूज्वलगत् ॥  
 आवहः प्रवहश्चैव विवहोऽथ ह्युदावहः । परावहः संवहश्च महाबलपराक्रमाः ॥ २० ॥  
 तथा परिवहः धीमान् उत्पानभदशसिनः । श्लेव शुभिताः सप्त मरुतो गगनेचराः ॥ २१ ॥  
 ये महा सर्वनोकरस्य क्षुवे प्रादुर्भवन्ति वै । ते सर्वे गगने दृष्टा व्यचरन्त यथासुगम् ॥ २२ ॥  
 अयोग्यतथाप्यचरन् मार्गं निशि निशाचरः । समहं स इ नश्रुषे रात्रापरिरिन्दमः ॥ २३ ॥  
 विवर्ता च दिवि गतो भगवान् दिवाकरः । कृष्णः कर्णश्च च तथा लक्ष्मणे सुनहद्विधि ॥ २४ ॥  
 असुध्दन्नापिषा वृन्द भूमिधृतिर्विभावसुः । गगनस्थश्च भगवान् अमीदृश परिदृश्यते ॥ २५ ॥

सप्त धूम्रनिभा घोराः सूर्या दिवि समुत्थिताः । सोमस्य गगनस्थस्य ग्रहास्तिष्ठन्ति शृङ्गाः ॥  
 वामे तु दक्षिणे चैव स्थितौ शुक्रवृहस्पती । शनैश्चरो लोहिताद्गो ज्वलनाङ्गसमद्युतिः ॥  
 समं समधिरोहन्तः सर्वे ते गगनेचराः । शृङ्गाणि शनकैर्वोरा युगान्तावर्तिनो ग्रहाः ॥  
 चन्द्रमाश्च सनक्षत्रैर्ग्रहैः सह तमोनुदः । चराचरविनाशाय रोहिणीं नाभ्यनन्दत ॥  
 गृहीतो राहुणा चन्द्र उल्काभिरभिहन्यते । उल्काः प्रज्वलिताश्चन्द्रे विचरन्ति यथासुखम् ॥  
 देवानामपि यो देवः सोऽप्यवर्षत शोणितम् । अपतन्गगनादुल्का विद्युद्रूपा महास्वनाः ॥  
 अकाले च द्रुमाः सर्वे पुष्पन्ति च फलन्ति च । लनाश्च सफलाः सर्वाः ये चाहुदैत्यनाशनम् ॥  
 फलेः फलान्यजायन्त पुष्पैः पुष्पं तथैव च । उन्मीलन्ति निमीलन्ति हसन्ति च रुदन्ति च ॥  
 विक्रोशन्ति च गम्भीराः धूमयन्ति ज्वलन्ति च । प्रतिमाः सर्वदेवानां वेदयन्ति महद्भयम् ॥  
 तदा हिरण्यकशिपोर्दैत्यस्योपरि वेश्मनः । माण्डागारायुधानारे निविष्टमभवन्मधु ॥  
 असुराणां विनाशाय सुराणां विजयाय च । दृश्यन्ते विविधोत्पाताः घोरा घोरनिदर्शनाः ॥  
 एते चान्ये च बहवो घोरोत्पाताः समुत्थिताः । दैत्येन्द्रस्य विनाशाय दृश्यन्ते कालनिर्मिताः ॥  
 मेदिन्यां कम्पमानायां दैत्येन्द्रेण महात्मना । महीधरा नागगणा निपेतुरभितौजसः ॥  
 विपज्ज्वालकुलैर्वक्त्रैर्विसुञ्चन्तो हुताशनम् । चतुःशीर्षाः पञ्चशीर्षाः सप्तशीर्षाश्च पन्नगाः ॥  
 वासुकिस्तक्षकश्चैव कर्कोटकधनञ्जयौ । एलामुखः कालियश्च महापद्मश्च वीर्यवान् ॥  
 सहस्रशीर्षो नागो वै हेमतालध्वजः प्रभुः । शेषोऽनन्तो महाभागो दुष्प्रकम्प्यः प्रकम्पितः ॥  
 दीप्तान्यन्तर्जलस्थानि पृथिवीधरणानि च । तदा क्रुद्धेन महता कम्पिनानि समन्ततः ॥  
 नागास्तेजोधराश्चापि पातालतलचारिणः । हिरण्यकशिपुर्दैत्यस्तदा संस्पृष्टवान्महीम् ॥  
 स्रष्टीष्टपुटः क्रोधाद् ब्राह्म श्व पूर्वजः । नदी भागीरथी चैव सरयूः कौशिकी तथा ॥  
 यमुना त्वथ कावेरी कृष्णवेणा च निम्नगा । सुवेणा च महाभागा नदी गोदावरी तथा ॥  
 चर्मण्वती च सिन्धुश्च तथा नदनदीपतिः । कमलप्रभवश्चैव शोणो मणिनिभोदकः ॥  
 नर्मदा शुभतोया च तथा वेत्रवती नदी । गोमतो गोकुलाकीर्णा तथा पूर्वसरस्वती ॥  
 मही कालमही चैव तमसा पुष्पवाहिनी । जम्बूद्वीपं रत्नवरं सर्वरत्नोपशोभितम् ॥  
 सुवर्णप्रकटं चैव सुवर्णाकारमण्डितम् । महानदं च लौहित्यं शैलकाननशोभितम् ॥  
 पत्तनं कोशकरणमृषिवीरजनाकरम् । मागधाश्च महाग्रामाः मुण्डा शुङ्गास्तथैव च ॥  
 सुह्वा मल्ला विदेहाश्च मालवाः काशिकोसलाः । भवनं वैनतेयस्य दैत्येन्द्रेणामिकम्पितम् ॥  
 कैलासशिखराकारं यत्कृतं विश्वकर्मणा । रक्ततोयो महाभीमो लौहित्यो नाम सागरः ॥  
 उदयश्च महाशैल उच्छिद्यतः शतयोजनम् । सुवर्णवैदिकः श्रोमान् मेघपङ्क्तिनिषेवितः ॥  
 भ्राजमानोऽर्कसदृशैर्जातरूपमथैर्द्रुमैः । शालैस्तालैस्तमालैश्च कर्णिकारैश्च पुष्पितैः ॥  
 अयोमुखश्च विख्यातः पर्वतो धातुमण्डितः । तमालवनगन्धश्च पर्वतो मलयः शुभः ॥  
 सुराष्ट्राश्च स्रवाहोकाः शूराभोरास्तथैव च । भोजः पाण्ड्याश्च वज्राश्च कलिङ्गास्तात्रलिप्तकाः ॥  
 तथैवोण्डाश्च पौण्ड्राश्च वामचूडाः सकेरलाः । क्षोभितास्तेन दैत्येन सदेवाश्चाप्सरोगणाः ॥०३॥  
 अगत्यभवन् चैव यदगन्धं कृतं पुरा । सिद्धचारणसंघश्च विप्रकीर्ण मनोहरम् ॥ ७४ ॥



विचित्रनानाविहग सुपुष्पितमहाद्रुमम् । जातरूपमये ऋगैरम्भरोगानादितम् ॥ ७५ ॥  
गिरि पुष्पितकश्चैव लक्ष्मीवान् प्रियदर्शन । उत्थित सागर मित्वा विश्रमश्चन्द्रमूर्त्यो ॥  
रराज मुमहाश्चक्रेर्गगन विलिखन्निव ॥ ७६ ॥

चन्द्रसूर्याशुमकाशे सागराद्रुममावृते । विद्युवान् सर्वत श्रीमान् भायत शनयोजनम् ॥  
विद्युता यत्र सघाता निपात्यन्ते नगोत्तमे । ऋषम पर्वतश्चैव श्रीमान्मृषममशित ॥ ७७ ॥  
कुञ्जर पर्वत श्रीमान् यत्रागस्त्यगृह शुभम् । विशालाशुश्च दुर्धर्ष सर्वांगामान्य पुरी ॥ ७८ ॥  
तथा भोगवती चापि दैत्येन्द्रणामिकम्पिता । महामेनो गिरिश्चैव पारियात्रश्च पर्वत ॥ ७९ ॥  
श्वक्रवाश्च गिरिश्रष्टो वाराहश्चैव पर्वत । प्राग्ज्वीतिपपुर चापि जातरूपमय शुभम् ॥ ८१ ॥  
थरिमम् वसति दुष्टात्मा नरको नाम दानव । मेघश्च पर्वतश्रष्टो मेघगम्भीरनिम्बन ॥ ८२ ॥  
षष्टिस्तत्र सहस्राणि पर्वतानां द्विजोत्तमा । तरुणाटित्यसकाशो मेरुस्तत्र महागिरि ॥ ८३ ॥  
यद्यराक्षमाण्यवैनित्य सेवितकन्दर । हमगर्भो महाशैलस्तथा हेमसरो गिरि ॥ ८४ ॥  
वैष्णवश्चैव शैलेन्द्रो दानवेन्द्रेण कम्पित । इमपुष्करसदृश तेन वैष्णवम सर ॥ ८५ ॥  
कम्पित मानम चैव हमवारण्डबाकुलम् । विशङ्कपर्वतश्चैव कुमारी च सरिदरा ॥ ८६ ॥  
तुषारचयसदृशो नन्दरक्ष्यपि पर्वत । उशीरविन्दुश्च गिरिश्चन्द्रप्रस्थलथाद्रिराट् ॥ ८७ ॥  
प्रजापतिगिरिश्चैव तथा पुष्करपर्वत । देवाभ्रपर्वतश्चैव तथा वै रणुको गिरि ॥ ८८ ॥  
क्रौञ्च सप्तपिण्डेश्च घूह्रवर्णश्च पर्वत । एते चान्ये च गिरयो देशा जनपदास्तथा ॥ ८९ ॥  
नद्य समागरा सर्वा सोऽकम्पयत दानव । कपिलश्च महीपुत्रो व्याघ्रवर्णश्च कम्पित ॥ ९० ॥  
खेचराश्च सतीपुत्रा पातालनलवासिन । गगनस्था परो रौद्रा मेघनामाङ्कुशाशुः ॥ ९१ ॥  
उर्ध्वगो मीमवेगश्च सर्व एवाभिकम्पिता । गन्दा शूली कगान्दश्च क्षिरण्यकशिपुस्तथा ॥ ९२ ॥  
जीमूतघनसकाशो जीमूतवननि स्वन । जीमूतघननिर्घोषो जीमूत इव वगवान् ॥ ९३ ॥  
देवारिदिनिचो वीरो नृभिश्च समुपाद्रवत् । समुत्पत्य सनस्तीक्ष्णैश्च तद्रेण महानरैः ॥

तशोकारसहायेन विदार्य निहतो युधि ॥ ९४ ॥

दैत्यराट् क्षिरण्यकशिपु सहस्रो वर्ष पर्यन्त अध शिरा होकर उग्र तपस्या करता है और ब्रह्मा से वह इम बात का वर पाता है कि कोई भी जन तनु उमका संहार न कर सके और किसी भा अस्म-शून्य से किसी भी समय उमकी धृति न होने पावे वर मिल गया और उमके मिलने ही दशोत्तमिच दैत्यराट् विश्व के सब देवी देवों में सना गया और चारों ओर उमीका प्रताप दमकने लगा । ज्वालामुखी की नाई अब उसके चारों से अत्याचारों की लावा निकलने लगी जिससे अस्त ही देव लोग ब्रह्मा की शरण में पहुँचे और बोले कि भगवन् ! इमे आममान में तो चढाया है, अब हमके पतन का मार्ग भी तो हू रिये । ब्रह्मा ने कहा कि इमे अपने पापों की नैया भर लेने दो । जब वह भर जायगी तब विष्णु हमका संहार कर देगे ।

दैत्यराट् के अत्याचार अब सीमा में बाहर हो गये-उमने सब देवों का यज्ञ-श्रद्धा छीन लिया और उनके सारे ही नके बंद कर दिये । तब मगवान् विष्णु ओंकार की साथ ले

उसकी सभा में पहुँचे। सभा क्या थी विश्व के वैभव की प्रदर्शनी थी। सारे ही नृत्य-वादा अशेष अप्सराओं के सारे ही विलासोत्सास, वासनाओं के उद्दीपन सारे ही उपसाधन वहाँ एकत्र थे। नृसिंह को देखते ही प्रह्लाद भांप गया कि वह कोई मर्त्य नहीं, स्वयं भगवान् हैं और वह उनका उसी क्षण से भक्त बन गया। किन्तु दैत्यराट् की तो पोरी-पोरी में गर्व खौल रहा था। वह आगे बढ़ा और उसने अपने सारे ही संहारक अस्त्र उन पर ऊल दिये। दानवों के वादल के वादल नृसिंह पर छा गये किंतु सूर्य की प्रखर किरणें इन वादलों को पार कर गईं और वे सब धरती पर आ गिरे। नृसिंह का द्रुम्भ अव दैत्यराट् से हुआ जिसमें अस्त्रों की भरमार से धरती-अंबर एक हो गए और अपने-पराए की संज्ञा जाती रही। पर दैत्यराट् आखिर मानव ही था। भगवान् के पंजों ने उसकी छाती विदीर्ण कर दी और वह यमलोक सिधार गया।

प्रस्तुत उपाख्यान ब्रह्मपुराणान्तर्गत नृसिंहोपाख्यान का परिवर्धित संस्करण प्रतीत होता है। श्लोकों में भारी समानता है। कुछ श्लोक तो जैसे के तैसे दोनों में उपलब्ध होते हैं।

विदग्धता एवं वर्णन की विशदता की दृष्टि से यह उपाख्यान अन्य उपाख्यानों से कहीं आगे बढ़ गया है और इसमें प्रह्लाद को ज्ञानलाभ के लिये न तो नृसिंह से ही लोहा लेना पड़ता और न और ही किसी प्रकार की श्रान्ति सहनी पड़ती है। निश्चय ही मत्स्यपुराण ने 'न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः' इस उक्ति को भुलाकर अनायास ही भक्त को भगवान् के दर्शन करा दिये हैं और यह एक बात ही इस उपाख्यान की नवीनता को स्थापित करने के लिये पर्याप्त है।

दैत्यसभा का वर्णन अनुूठा है किन्तु दैत्यसभा में दत्तने वनस्पतियों का क्या काम ? सभा में तो ज्वन्द ही बेल-वृक्षों से सजावट का काम चल जाता है। फिर अन्य बहुत से प्रसाधनों को जुटाना (जैसे नदी आदि) जहाँ इस उपाख्यान के रचयिता को देशकालानभिज्ञता का द्योतक है वहाँ वह उसकी रसहीनता का भी परिचायक है। युद्ध का वर्णन इस उपाख्यान का जितना ही व्यापक है उतना ही वह रोमांचभेदक भी है—किंतु नृसिंह दैत्यराट् के तुमुल द्रुम्भ पर इससे गहरी धूप नहीं पड़ती और लावोद्गारी वह लोकालोक अनुूकृत ही रह जाता है। दैत्यराट् के निधन का चित्र भी एकाएक हमारे संमुख आ जाता है। उसके आवश्यक प्रारूप हमारी आंखों से ओझल ही रह जाते हैं। निश्चय ही मत्स्यपुराण का उपाख्यान अपेक्षाकृत आधुनिक है और इससे प्रह्लाद के चरित्र में आवश्यक विकास का क्रम अनुद्भूत ही रह जाता है।

पद्मपुराण के पञ्चम खण्ड के ४२ वें अध्याय में नृसिंहचरित का वर्णन इस प्रकार है :-

भोग्म उवाच—

इदानीं श्रोतुमिच्छामि हिरण्यकशिपोर्वधन् । नरसिंहस्य माहात्म्यं तथा पापविनाशनम् ॥१॥

पुत्रस्य उवाच—

पुरा कृतयुगे राजन् हिरण्यरशिषु प्रभु । दैन्यानामादिपुण्यदचकार सुमहत्तपः ॥ १ ॥  
 दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च । जलवामी समभवत् रनानमौनधृतमनः ॥ ३ ॥  
 वृत् । शमदमाभ्यां च ब्रह्मचर्येण चैव हि । ब्रह्मा प्रीनोऽभवत्तस्य तपसा नियमेन च ॥ ४ ॥  
 तन स्वयभूर्भंगवान् स्वयमागत्य तत्र हि । विमानेनार्कवर्णेन ह्मयुक्तेन भास्वता ॥ ५ ॥  
 आदित्यैर्वसुभि साध्यैर्मरुद्भिर्देवैः सह । रद्वैर्विश्वसहायैश्च यक्षराक्षसपन्नगैः ॥ ६ ॥  
 दिग्विभागैर्विदिग्भिश्च नदीभिः सागरैस्तथा । नक्षत्रैश्च सुहूर्धैश्च राचरैश्च महाप्रदैः ॥ ७ ॥  
 देवैर्ब्रह्मर्षिभिः सार्धं मिद्धैः सप्तर्षिभिस्तथा । राजर्षिभिः पुण्यकृद्भिर्गन्धर्वाप्सरसा गनैः ॥ ८ ॥  
 चराचरगुरुः श्रोमान् वृत् मर्वदिबौकसी । ब्रह्मा ब्रह्मविदा श्रेष्ठो दैत्य वचनमब्रवीत् ॥ ९ ॥

ब्रह्मोवाच—

प्रीनोऽसि तव मत्स्य तपसाऽनेन सुव्रत । वर वरय भद्र ते यथेष्ट काममाप्नुहि ॥ १० ॥

हिरण्यकशिपुर्वाच—

न देवाभ्युपगन्धर्वा न यक्षोरगराक्षसाः । न मानुषाः विशाचाश्च हन्युर्मा देवमत्तम ॥ ११ ॥  
 ऋषयो मानवा शार्पेर्न शपेयुः पिनामद् । यदि मे भगवान्प्रीनो वर प्य वृनो मया ॥ १२ ॥  
 न शस्त्रेण न चास्त्रेण गिरिणा पादपेन वा । न शुभ्केन न चार्धेण न स्याद्भान्येन मे वपः ॥  
 भवेयमद्मेवायं सोमो वायुर्नानाशनः । सल्लि चान्तरिक्षं च नक्षत्राणि दिशो दश ॥ १४ ॥  
 अहं क्रोधश्च कामश्च वरगो वामवो यमः । धनदश्च धनाध्यक्षो दक्षः किपुर्न्याधिपः ॥ १५ ॥

ब्रह्मोवाच—

एव दिव्यो वरस्तात मया दत्तस्तवाद्भुतः । सर्वकामप्रदो वत्स प्राप्तवसि त्व न सद्य ॥

पुत्रस्य उवाच—

एवमुक्त्वा स भगवान् जगामाशाशमेव हि । वैराजं ब्रह्मसदनं ब्रह्मर्षिभ्योऽवेवितम् ॥ १७ ॥  
 ततो देवाश्च गन्धर्वा ऋषिभिः सह चारणाः । वरप्रदानं श्रुत्वैवं रिगामहमुपरिता ॥ १८ ॥

देवा ऊचुः—

वरप्रदानाद् भगवन् वरिष्यसि म नोऽपुरः । तप्रसादश्च भगवन् वधोऽस्य च विविन्त्यताम् ॥

पुत्रस्य उवाच—

भगवान् सर्वभूतानामादिकर्ता स्वयं प्रभुः । सृष्टा च ह्यव्यकृतानामन्यत्तप्रकृतिः परः ॥ २० ॥  
 सर्वंगोकरित्वाक्यं कृत्वा देवः प्रजापति । वाशामयामास तदा शृणोतैर्वचनान्भुमिः ॥ २१ ॥

ब्रह्मोवाच—

अस्य विदहनेन प्राणव्यं नश्यतः परम् । तस्योऽनेस्य भगवान्स्वयं विष्णुः करिष्यति ॥

पुलस्त्य उवाच—

तच्छ्रुत्वा विबुधा वाक्यं पङ्कजजाननात् । स्वानि स्थानानि दिव्यानि विप्रजग्मुर्मुदान्विताः ॥  
 लब्धमात्रे वरे सोऽथ सर्वा अवाधत प्रजाः । हिरण्यकशिपुर्दैत्यो वरदानेन गर्वितः ॥ २४ ॥  
 आश्रमेषु महाभागान् सुनीच्यै संशितव्रतान् । सत्यधर्मपरान्दान्तान् धर्षयामास दानवः ॥ २५ ॥  
 देवांस्त्रिभुवनस्थांश्च पराजित्य महासुरः । त्रैलोक्यं वशमानीय स्वर्गे वसति दानवः ॥ २६ ॥  
 तदा वरमदोत्सिक्तश्चोदितः कालधर्मिणा । यश्चिदानकरोद्दैत्यान् अयज्ञीयांश्च दैवतान् ॥ २७ ॥  
 यथादित्याश्च साध्याश्च विश्वे च वसवस्तथा । रुद्रा देवगणा यक्षा देवद्विजमहर्षयः ॥ २८ ॥  
 शरण्यं शरणं विष्णुमुपतस्थुर्महाबलम् । देवदेवं यज्ञमयं वासुदेवं सनातनम् ॥ २९ ॥

देवा ऊचुः—

नारायण महाभाग देवास्त्वां शरणं गताः । त्रायस्व जहि दैत्येन्द्रं हिरण्यकशिपुं प्रभो ॥ ३० ॥  
 त्वं हि नः परमो धाता त्वं हि नः परमो गुरुः । त्वं हि नः परमो देवो ब्रह्मादीनां सुरोत्तमः ॥

विष्णुरुवाच—

भयं त्यजध्वममराः अययं वो ददान्यहम् । तथैव त्रिदिवं देवाः प्रतिपद्यत मा चिरम् ॥ ३२ ॥  
 एवं हि सगणं दैत्यं वरदानेन गर्वितम् । अवध्यममरेन्द्राणां दानवेन्द्रं निहन्यहम् ॥ ३३ ॥

पुलस्त्य उवाच—

एवमुक्त्वा तु भगवान् विश्वपो विष्णुरव्ययः । हिरण्यकशिपुस्थानं जगाम हरिरीश्वरः ॥ ३४ ॥  
 तेजसा भास्कराकारः शशी कान्त्येव चापरः । नरस्य कृत्वाऽर्धतनुं सिंहस्यार्धतनुं तथा ॥ ३५ ॥  
 नारसिंहेन वपुषा पाणी संगृह्य पाणिना । ततोऽवश्यत विस्तीर्णां दिव्यां रम्यां मनोरमान् ॥  
 सर्वकामयुतां शुभ्रां हिरण्यकशिपोः सभाम् । विस्तीर्णां योजनशतं शतमध्यर्धमायतम् ॥ ३७ ॥  
 वैहायसीं कामगमां पद्मयोजनमुच्छ्रितान् । जराशोकक्षमापेतां निष्प्रकम्पां शिवां सुखान् ॥  
 वैश्रमासनवतीं रम्यां ज्वलन्तीमिव तेजसा । अन्तःसलिलसंयुक्तां विहितां विश्वकर्मणा ॥ ३९ ॥  
 दिव्यवर्णमयैर्वृक्षैः फलपुष्पप्रदैर्युतान् । नीलपौतासितद्र्याग्नेः श्वेतैर्लोहितकैरपि ॥ ४० ॥  
 अवदातैस्तथा गुरुमै रक्तमञ्जरिधारिभिः । सिताभ्रधनसंकाशां प्लवन्ती चाम्बुदृश्यत ॥ ४१ ॥  
 रश्मिमती स्वभावेन दिव्यगन्धमनोरमा । न सुखा न च दुःखा सा न शीता न च धर्मदा ॥

न क्षुत्पिपासे र्लानि वा प्राप्य तां प्राप्नुवन्ति ते ।

नानारूपैरुपकृतां सुचित्रैश्च शुभं ( सुभा ? ) स्वरैः ॥ ४३ ॥

अतिसूर्यं च चन्द्रं च शिखिनं च स्वयंप्रभा । दीप्यते नाकपृष्ठस्था भासयन्ती च मासुरा ॥  
 सर्वे चक्रासिरे तस्यां मुदिताश्चैव मानुषाः । रसवन्तः प्रभूताश्च भक्ष्यभोज्यान्नमुत्तमम् ॥  
 पुष्पगन्धाः त्वजश्चापि नित्यकालफलद्रुमाः । उष्णे शीतानि तोयानि शीते चोष्णानि सन्ति वै ॥  
 पुष्पितात्रान्महाशाखान् प्रवालाङ्कुरधारिणः । लतावितानसंछन्नान् कल्पयामास स प्रभुः ॥  
 गन्धवन्ति च पुष्पाणि रसवन्ति फलाणि च । तानि शीतानि चोष्णानि तत्र तत्र सरांसि च ॥  
 अपश्यद् भूपतीर्धानि सभायां तस्य स प्रभुः । नलिनैः पुण्डरीकैश्च शतपत्रैः सुगन्धिभिः ॥

रक्तै कुवलयैश्चैव कक्षारैश्चरत्नैस्तथा । नानादचर्यसमोपेनै । पुष्पैरन्यैश्च सुप्रियैः ॥ ५० ॥  
 कारण्डवैश्चक्रवाकैः सारमैः कुरुरैरपि । विमलस्फटिकामानि पाण्डुरच्छदनेद्विजैः ॥ ५१ ॥  
 बहुहसोपगीतानि सारमाना कृतानि च । गन्धकृत्यो लतास्तत्र पुष्पमञ्जरिधारिणी ॥ ५२ ॥  
 दृष्टवान्भगवान्दृष्ट्वा खदिरान्ध्वेनमार्जुनान् । चूना निम्बा नागवृक्षा कदम्बा बकुला धवाः ॥  
 चकोरा शनपत्राश्च मत्तजोशिलसारिका । पुष्पितान्पुष्पिताग्राश्च सपतन्ति महाद्रुमान् ॥  
 रक्तपीताम्बुगन्धत्र पादपाद्यगना- रगाः । परस्परमवैष्णन्त प्रदृष्टा जीवजीवकाः ॥ ५५ ॥  
 तस्या समाया दैत्येन्द्रो हिरण्यकशिपुस्तदा । आमीन आमने चित्रे दशनस्वप्रमाणतः ॥ ५६ ॥  
 दिवाकरनिभे दिव्ये दिव्यास्तरणसस्तृते । हिरण्यकशिपुर्दैत्य- आरते उज्ज्वलितकुण्डलः ॥ ५७ ॥  
 उपाचेरुर्महादैत्या हिरण्यकशिपु तदा । दिव्यतालानि गीतानि जगुर्गन्धर्वसत्तमाः ॥ ५८ ॥  
 विश्वाची सहज्रन्या च प्रम्लोचेति च विश्रुता । दिव्याऽथ मोरभेयी च सर्माची पुञ्जितस्थिता ॥  
 मिश्रकेशी च रम्भा च चित्रमा श्रुतिविभ्रमा । चाम्पनेत्रा घृताची च मेनका चोर्वशी तथा ॥  
 एताः सहस्रशरचान्या नृत्यगीतविशारदाः । उपातिष्ठन् राजान हिरण्यकशिपु प्रभुम् ॥ ६१ ॥  
 उपामते दिने पुत्रा- सर्वे लम्बवरास्तथा । बलिवैरोचनिस्तत्र नरक पृथिवीसुतः ॥ ६२ ॥  
 प्रह्लादो विप्रचित्तिश्च गविष्ठश्च महासुर । सुरहन्ता दु खरुतां सुमनाः सुमनिस्तथा ॥ ६३ ॥  
 घडोदरो महापादर्वं क्रथनः पिठरस्तथा । विश्वरूपं सुरूपश्च विश्वनाथो महाबल ॥ ६४ ॥  
 दशप्रोवश्व वाली च मेघवामा महासुरः । घटामो विटरूपश्च उज्ज्वलदचेन्द्रतापनः ॥ ६५ ॥  
 दैत्यदानवमघारते सर्वे उज्ज्वलितकुण्डलाः । स्रग्विणो वर्मिणः सर्वे सर्वे च चरितव्रताः ॥ ६६ ॥  
 सर्वे लम्बवरा शूराः सर्वे विदितश्रुत्यव । एते चान्ये च बहवो हिरण्यकशिपु प्रभुम् ॥ ६७ ॥  
 उपामते महात्मान सर्वे दिव्यपरिच्छदाः । विमानैर्विबिधाकरैर्भ्राजमानैरिवाग्निभिः ॥ ६८ ॥  
 महेन्द्रवपुष- सर्वे विनिष्काहदबाहवः । भूषिताङ्गा दिने- पुत्रास्तमुपामत सर्वतः ॥ ६९ ॥  
 [ तस्या समाया दिव्यायामसृग सर्वतोत्तमा । हिरण्यकशिपो- सर्वे दिवाकरममप्रभाः ॥  
 न ह्युत नैव नो दृष्ट हिरण्यकशिपोर्यथा ॥ ७० ॥ ]

दैवदर्वं दैत्यमिहस्य यथा तस्य महात्मनः । न ह्युत नैव दृष्ट च कस्यापि सुवनशये ॥ ७१ ॥

रजनजनकचित्रवेदिकायां परिक्रान्तविचित्रवीथिकायाम् ।

त ददर्श सृगायिनः समाया सुखिरजाग्गवायुशोभितायाम् ॥ ७२ ॥

कनकवलयहारभूषिताङ्ग दिग्विजयं स सृगायिणो ददर्श ।

दिवमकरकरप्रभ उज्ज्वल दिग्विजयशरीरनिषेव्यमायाम् ॥ ७३ ॥

ततो दृष्ट्वा महामाग काञ्चनकमिवगतम् । नारमिह वपुदग्न्न भरतच्छत्रमिवानलम् ॥

हिरण्यकशिपो- पुत्रं प्रह्लादो नाम वीर्यवान् । दिव्येन वपुसा मिश्रमदस्यदेवमाणनम् ॥

त दृष्ट्वा स्वमशोकामानपूर्वा तनुमापितम् । विरिजता दानवा- सर्वे हिरण्यकशिपुश्च मः ॥

प्रह्लाद उवाच—

महाराज महाबाहो दैत्यानामादिमनवः । न ह्युत नैव मे दृष्ट नारमिन्द्र वपुः ॥ ७४ ॥

अपकर्त्त परम दिव्य चिमिद रुद्रमाणनम् । दैत्यान्वहरण धोर शमतीव मनो मय ॥ ७५ ॥

अस्य देवाः शरीरस्थाः सागराः सरितस्तथा । हिमवान्यारियात्रश्च ये चान्ये कुलपर्वताः ॥  
 चन्द्रमाश्च सनक्षत्रैरा(त्र आ)दित्या रदिमभिः सह । धनदो वरुणश्चैव यमः शक्रश्चीपतिः ॥  
 मरुतो देवगन्धर्वा ऋषयश्च तपोधनाः । नागा यक्षा पिशाचाश्च राक्षसा भीमविक्रमाः ॥  
 ब्रह्मा देवाः पशुपतिर्ललाटस्था भ्रमन्ति हि । स्थावराणि च सर्वाणि जङ्गमानि तथैव च ॥८२॥  
 भवांश्च सहितोऽस्माभिः सर्वैर्दैत्यगणैर्धृतः । विमानशतसङ्कीर्णा सर्वा या भवतः सभा ॥८३॥  
 सर्वं त्रिमुत्रनं राजँल्लोकधर्मश्च शाश्वतः । दृश्यते नरसिंहेऽस्मिस्तथेदं निखिलं जगत् ॥८४॥  
 प्रजापतिश्चात्र मनुर्महात्मा भ्रहाश्च योगाश्च मही नभश्च ।  
 उत्पातकालश्च धृतिर्मतिश्च रतिश्च सत्यं च तपो दमश्च ॥ ८५ ॥  
 सनत्कुमारश्च महानुभावो विश्वे च देवाः ऋषयश्च सर्वे ।  
 क्रोधश्च कामश्च तथैव हर्षो दर्पश्च मोहः पितरश्च सर्वे ॥ ८६ ॥

पुलस्त्य उवाच—

प्रहादस्य वचः धृत्वा हिरण्यकशिपुः प्रभुः । उवाच दानवान्सर्वान् गणांश्च स गणाधिपः ॥

हिरण्यकशिपुस्त्वाच—

मृगेन्द्रो गृह्यनामेष अपूर्वा तनुमास्थितः । यदि वा संशयः कश्चिद् बध्यतां वनगोचरः ॥

पुलस्त्य उवाच—

ते दानवगणाः सर्वे मृगेन्द्रं भीमविक्रमम् । परिक्षिपन्तो मुदितास्त्रासयामासुरोजसा ॥ ८९ ॥  
 सिंहनादं विमुच्याथ नरसिंहो महाबलः । बभञ्ज तां सभां सर्वां व्यादितास्य श्वान्तकः ॥९०॥  
 सभायां भज्यमानायां हिरण्यकशिपुः स्वयम् । निक्षेपास्त्राणि सिंहस्य रोषव्याकुललोचनः ॥  
 सर्वास्त्राणामथ श्रेष्ठं दण्डमस्त्रं सुदारुणम् । कालचक्रं तथा घोरं विष्णुचक्रं तथापरम् ॥ ९२ ॥  
 पैतामहं तथात्युग्रं त्रैलोक्यनिमित्तं महत् । विचित्रामशर्निं चैव शुष्कार्द्रं चाशनिद्वयम् ॥९३॥  
 रौद्रं तथोग्रशूलं च हुंकारं मुशलं तथा । अस्त्रं ब्रह्मशिरश्चैव ब्राह्ममस्त्रं तथैव च ॥ ९४ ॥  
 नारायणास्त्रमैन्द्रं च आग्नेयं शैशिरं तथा । वायव्यं मन्थनं चैव कपालमथ किंकरम् ॥९५॥  
 तथाऽप्रतिहतां शक्तिं क्रौञ्चमस्त्रं तथैव च ।

[ अस्त्रं ब्रह्मशिरश्चैव सोमस्त्रं शैशिरं तथा ॥ ९६ ॥ ]

मोहनं शोषणं चैव सन्तापनविलापनम् । कल्पनं शातनं चैव महास्त्रं चैव रोधनम् ॥९७॥  
 कालमुद्गरमक्षोभ्यं तापनं च महाबलम् । संवर्तनं मोहनं च तथा नायाधरं वरम् ॥ ९८ ॥  
 गान्धर्वमस्त्रं दयितम् असिरत्नं च नन्दकम् । प्रस्वापनं प्रमथनं वारुणं चास्त्रमुत्तमम् ॥९९॥  
 अस्त्रं पाशुपतं चैव यस्याऽप्रतिहता गतिः । एतान्यस्त्राणि दिव्यानि हिरण्यकशिपुस्तदा ॥  
 अञ्जन्नरसिंहस्य दीप्तस्याग्नेरिवाहुतिम् । अस्त्रैः प्रञ्चलितैः सिंहमावृणोदसुरोत्तमः ॥  
 विवस्वान्धर्मसमये हिमवन्तमिवांशुभिः । स ह्यनर्षानिलोद्भूतो दैत्यानां सैन्यसागरः ॥१००॥  
 क्षणेनाप्लावयत्सर्वं मैनाक्रमिव सागरः । प्रासैः पाशैश्च खड्गैश्च गदाभिर्मुसलैस्तथा ॥१०१॥

वज्रैरक्षिभिर्दक्षैव बहुशास्त्रैर्ह्यदुमैः । सुदर्शैः कृत्वाशैश्च शिलोत्पलपर्वतैः ॥

शतघ्नीभिश्च क्षीप्ताभिर्दण्डैरपि सुदारणैः ॥ १०४ ॥

सोऽसृजद्दानवो मायामग्निं वायुमभीरितम् । तमिन्द्रस्तोषदौ सार्धं सहस्रांशो महायुधि ॥  
 महता तोयवर्षेण शमयामास पावकम् । तस्यां प्रतिहताया तु मानायां युधि दानवम् ॥ १०६ ॥  
 असृजद् घोरसकाशं तमस्तीव्रममन्तनम् । तममा सवृत्ते लोके दैत्येष्वाम्नायुधेषु च ॥ १०७ ॥  
 स्वनेनसा परिवृत्तो दिवाकर इवोद्गतम् । त्रिशिखां मृदुगीं चारुम ददृमुदार्नवा रणे ॥ १०८ ॥  
 ललाटस्थां त्रिकूलस्थां गंगां त्रिपथगामिव । तत सर्वांस्तु मायास्तु हतास्तु दिदिनिन्दना ॥ १०९ ॥  
 हिरण्यकशिपु देत्या विषण्णां शरणं ययुः । तत्र प्रवृत्तित्वां क्रोधात्प्रदहतिव तेजसा ॥ ११० ॥  
 तस्मिन्नुद्धे तु दैत्येन्द्रे तमोभूतमभूज्जगत् । आवह प्रवहदक्षैव विवहोऽथ समीरणम् ॥ १११ ॥  
 परावहः सवहश्च उदहश्च महदहम् । तथा परिवहं श्रीमानुत्पानमयशसिनम् ॥ ११२ ॥  
 इत्येव क्षुभिताः सप्त मरतो गगनेचराः । ये ग्रहाः सर्वलोकेषु क्षये प्रादुर्भवन्ति हि ॥ ११३ ॥  
 ते सर्वे गगने दृष्टा व्यचरन्त यथामुखम् । अयोगतश्चाप्यचरन्त योषा निशि निशाचरम् ॥  
 सप्रहं सह नक्षत्रैस्तारापतिरिन्दमम् । विवर्जतां च भगवान् गतो दिवि दिवाकरः ॥ ११५ ॥  
 कृष्णः कवचधश्च तदा दृश्यते सुमहान्दिवि । असृजद्घासिता मूर्ध्ना धूमवनि विभावसुः ॥ ११६ ॥  
 गगनस्थश्च भगवानर्षाह्यं परिविष्यते । सप्तधूमनिना घोराः सूर्या दिवि ससुत्थिनः ॥ ११७ ॥  
 सोमस्य गगनरक्षस्य ग्रहास्तिष्ठन्ति शृङ्गणः । वामे च दक्षिणे चैव स्थितौ शुक्रवृद्धरनी ॥  
 शनैश्चरो लोहिताक्षो लोहिताक्षमनयुधिः । सम समभिरोदन्त सर्वे वै गगनेचराः ॥ ११९ ॥  
 शृङ्गाणि शन्वैर्घोरा गुगान्तावर्तनप्रदा । चन्द्रमाश्च मनस्यधो प्रदौ सह तमोनुदः ॥ १२० ॥  
 चराचरविनाशाय रोदिणीं नाभ्यनन्दन्त । गृहीतो राहुणा चन्द्र उल्काभिरभिहन्त्यत्र ॥ १२३ ॥  
 उल्कां प्रकालिताश्चन्द्रे व्यचरन्त यथासुखम् । देवानामप्रियो देवः सोऽप्यवर्षन् शोणितम् ॥  
 अपन्द गगनादुल्का विषुद्र्या महास्वना । भकाले च द्रुमाः सर्वे पुण्ड्रिणि च पन्थि च ॥  
 सनाश्च सत्पला मर्वा वा आहुदैत्पनाशिसाः । फले पलाय्यजायन्त पुत्रे पुत्रैव च ॥  
 उन्मीलन्ति निमोहन्ति हसन्ति प्रवृत्ति च । निमोहन्ति च संमीर धूमादग्ने उदन्ति च ॥  
 प्रतिष्ठाः सर्वदेवानां वधयन्तो महद्भयम् । आरण्यैः सह सगृष्टां आग्याश्च गृहदग्निम् ॥  
 चुटुमूर्धैव तस्य शृणुद उरन्विने । नद्यश्च प्रतिकूलानि वदन्ति वलुणोदकम् ॥ १२९ ॥  
 न प्रकालन्ति च दिशो रत्नरेणुमनाङ्गणम् । वातरसत्वा न पूजयन्ते पूजनाहं कथंचन ॥  
 वायुवेगान् हृदयते भक्षयन्ते प्रवृत्तन्ति च । तथा च मर्दभूतानां ह्याया न परिवर्तते ॥ १३१ ॥  
 धररेण मते सूर्वे स लोकाणां सुखक्षये । तदा हिरण्यकशिपोर्देवस्थोऽभिविहसन् ॥ १४० ॥  
 माग्नागारे तुष्कारे निषिद्धमभय-जम् । अमुगर्गां विनाशाय मुगर्गां विजशाय च ॥ १४३ ॥  
 दृढदन्ते विक्रियोपजा घोरा घोरनिदर्शनाः । एते चान्ये च बहवो घोरस्याः समुत्थिताः ॥  
 देवेन्द्रस्य विनाशाय दृढदन्ते रणशपिनः । देदिन्वा वम्भमानायां दैत्येन्द्रेण महात्मना ॥  
 महीधरा नागणाय निषेधुरनिधोऽथ ॥ विषम्भातजुलैर्बभूविसुदन्तो द्रुताशनम् ॥ १४६ ॥

चतुःशीर्षाः पञ्चशीर्षाः सप्तशीर्षाश्च पत्रगाः । वासुकिस्तक्षकश्चैव कर्कोटकधनञ्जयौ ॥ १४७ ॥  
 प्लामुखः कालियश्च महापद्मश्च वीर्यवान् । सहस्रशीर्षः शुद्धाङ्गो हेमतालध्वजः प्रभुः ॥ १४८ ॥  
 शोषोऽनन्तो महानागो ह्यप्रकम्पश्च कम्पितः । दीप्यन्तेऽन्तर्जलस्थानि पृथिवीविवराणि वै ॥  
 सप्त दैत्येन्द्रकोपेन कम्पितानि समन्ततः । नानातेजोधराश्चापि पातालतलचारिणः ॥ १५० ॥  
 पाताले सहसा क्षुब्धे दुष्प्रकम्प्याः प्रकम्पिताः । हिरण्यकशिपुर्दैत्यस्तदा संस्पृष्टवान्महीम् ॥  
 सन्दष्टौष्टपुटः क्रुद्धो वराह इव पूर्वजः । गङ्गा भागीरथी चैव कौशिकी सरयूरपि ॥ १५२ ॥  
 यमुना नाथ कावेरी कृष्णा वेणा च निम्नगा । तुङ्गमद्रा महावेगा नदी गोदावरी तथा ॥  
 चर्मण्वती च सिन्धुश्च तथा नदनदीपतिः । मेलकप्रभवश्चैव शोणो मणिनिभोदकः ॥ १५४ ॥  
 नर्मदा च शुभस्रोतास्तथा वेत्रवती नदी । गोमती गोकुलाकीर्णा तथा पूर्वा सरस्वती ॥ १५५ ॥  
 महाकालमही चैव तमसा पुष्पवाहिनी । जम्बूद्वीपं रत्नवन्तं सर्वरत्नोपशोभितम् ॥  
 सुवर्णपुटकं चैव सुवर्णाकरमण्डितम् । महानदश्च लौहित्यः शैलः काञ्चनशोभितः ॥ १५७ ॥  
 पत्तनं कोषकाराणां कुर्शि च रजताकरम् (?) । मगधाश्च महाग्रामाः पुण्ड्रा उग्रास्तथैव तु ॥  
 सुद्धा मल्ला विदेहाश्च मालवाः काशिकोशलाः । भवनं वैनतेयस्य दैत्येन्द्रेणापि कम्पितम् ॥  
 कैलासशिखराकारं यत्कृतं विश्वकर्मणा । रत्नतोयो महाभीमो लौहित्यो नाम सागरः ॥  
 उदयश्च महाशैलः उच्छ्रितः शतयोजनः । सुवर्णवेदिकः श्रीमान् मेघपङ्क्तिनिषेवितः ॥  
 आजमानोऽर्कसदृशैर्जातरूपमयैर्द्रुमैः । शालैस्तालैस्तमालैश्च कर्णिकारैश्च पुष्पितैः ॥ १५२ ॥  
 अयोमुखश्च विख्यातः सर्वतो धातुमण्डितः । तमालवनगन्धश्च पर्वतो मलयः शुभः ॥  
 सुराष्ट्रश्च सवाहीकाः शूद्राभीरास्तथैव च । भोजाः पाण्ड्याश्च वङ्गाश्च कलिङ्गास्ताम्रलिप्तकाः ॥  
 तथैव पौण्ड्राः शुभ्राश्च वामचूटाः सकेरलाः । क्षोभितास्तेन दैत्येन देवाश्चाप्सरसां गणाः ॥  
 अगस्त्यभवनं चैव यदगस्त्यकृतं पुरा । सिद्धचारणसंघैश्च विप्रकीर्णं मनोहरम् ॥ १५६ ॥  
 विचित्रनानाविहगं सुपुष्पितमहाद्रुमम् । जातरूपमयैः शृङ्गैरप्सरोगणसेवितम् ॥ १५७ ॥  
 गिरिः पुष्पितकदचैव लक्ष्मोवान् प्रियदर्शनः । उत्थितः सागरं भित्त्वा विश्रामश्चन्द्रसूर्योः ॥  
 रराज स महाशृङ्गैर्गगनं विलिखन्निव । चन्द्रसूर्यांशुसङ्काशैः सागराम्बुसमावृतैः ॥ १५९ ॥  
 विद्युद्वासो यतः श्रीमान् आयतः शतयोजनः । विद्युतां यत्र संपाता निपात्यन्ते नगोत्तमे ॥  
 ऋपभः पर्वतश्चैव श्रीमानृपभसंस्थितः । कुञ्जरः पर्वतः श्रीमानगस्त्यस्य गृहं शुभम् ॥ १६१ ॥  
 विमलाख्या च दुर्धर्पा सर्पाणां मालती पुरी । तथा भोगवती चापि दैत्येन्द्रेणामिकम्पिता ॥  
 महासेनगिरिश्चैव पारियात्रश्च पर्वतः । चक्रवांश्च गिरिश्रेष्ठो वाराहश्चैव पर्वतः ॥ १६३ ॥  
 प्राग्व्योत्तिपपुरं चापि जातरूपमयं शुभम् । यस्मिन्नुवास दृष्टात्मा नरको नाम दानवः ॥  
 मेघश्च पर्वतश्रेष्ठो मेघगन्भीरनिस्वनः । पट्टिस्तत्र सहस्राणि पर्वतानां विशापते ॥ १६५ ॥  
 तरुणादित्यसङ्काशो मेरुश्चैव महागिरिः । यक्षराक्षसगन्धर्वैर्नित्यं सेवितकन्दरः ॥ १६६ ॥  
 हेमगर्भो महासेनस्तथा मेघसखो गिरिः । कैलासश्चैव शैलेन्द्रो दानवेन्द्रेण कम्पितः ॥ १६७ ॥  
 हेमपुष्परसच्छन्नं तेन वैखानसं सरः । कम्पितं मानसं चैव हंसकारण्डवाकुलम् ॥ १६८ ॥



त्रिशङ्कः पर्वतश्रेष्ठः कुमारी च सरिद्ररा । तुषारचयमंडशो मन्दरश्चापि पर्वतः ॥ १६९ ॥  
 उशीरबीजश्च गिरिभद्रप्रस्थस्तथाद्रिराट् । प्रजापतिगिरिश्चैव तथा पुष्करपर्वतः ॥ १७० ॥  
 देवाम् पर्वतश्चैव तथा वै वातुकागिरिः । कौञ्चः सप्तशिखैश्च घृष्ववर्णश्च पर्वतः ॥ १७१ ॥  
 एते चान्ये च गिरयो देशा जनपदास्तथा । नद्यः सप्तगाराः सर्वाः सोऽङ्कश्रपयत दानवः ॥  
 कविलद्वय महीपुत्रो ध्याप्रवादच प्रवम्बिनः । खेचरादच निशापुत्रा पातालतलवामिनः ॥  
 गगन्तथापरो रौद्रो मेघनामाऽङ्कशापुधः । ऊर्ध्वगो मीमवेगदच सर्वं एतेऽभिवम्बिता ॥  
 गद्दी शूलो करालदच हिरण्यकशिपुस्तथा । जीमूतघननिषीपो जीमूत इव वेगवान् ॥ १७४ ॥  
 देवारिद्रिनित्रो इतो नृमिह समुपाद्रवत् । स तु तेन तपस्वीहोतृगैत्रेण महानसै ॥  
 तर्शोकारमहायेन विदार्यं निहतो युधि ॥ १७६ ॥

मही च कालदच शशी नमदच ग्रहा समुयादच त्रिशङ्कच सर्वाः ।

नमदच शैलादच महाजंबूदच गता प्रमाद दिनिपुत्रनाशनात् ॥ १७७ ॥

ततः प्रमुदिता देवा ऋषयश्च तपोधना । तुष्टुवृतामभिदिन्वैरादिदेव सनातनम् ॥ १८८ ॥

देवा ऊचुः—

एतथा विभूत देव नारमिहमिद वपु । एतदेवार्चयिष्यन्ति परापरविदो जनाः ॥ १८९ ॥

महोवाच—

भवान्ब्रह्मा च रद्रश्च महेंद्रो देवमत्तम । भवान्कर्ता विकर्ता च लोकाणां प्रभवोऽन्ययः ॥

परां च मिद्वि च पर च सत्त्वं पर रदस्य परम हविदच ।

पर च धर्म परम दशदच त्वामाहुरभ्यथ परम पुराणम् ॥ १९० ॥

पर च सत्य परम तपदच पर पवित्र परम च मार्गम् ।

पर च यज्ञ परम च होत्र त्वामाहुरभ्यथ परम पुराणम् ॥ १८२ ॥

पर शरीर परमं च ज्ञेय पर च योग परमां च वागीन् ।

पर रहरय परमा गर्भि च त्वामाहुरभ्यथ परम पुराणम् ॥ १८३ ॥

पुत्रत्य उवाच—

एवमुक्त्वा तु भगवान् सर्वलोकपितामहः । स्तुत्वा नारायण देवं ब्रह्मलोक गतः प्रभुः ॥

ततो नदत्सु तूर्येषु नृयन्तीष्वम्बरः प्ल च । क्षारीदस्योत्तरं कूलं ब्रह्मणो हरिरीदवरः ॥ १८७ ॥

नारमिह वपुर्देव स्थापयित्वा मुनीश्विनाम् । पीराग रूपमास्त्राय प्रयथो गच्छन्ध्वजः ॥ १८६ ॥

अष्टचक्रैः यानेन भूतिपुत्रेण भास्वता । अयत्तद्वृत्तिर्देव स्वस्थान गतवान् प्रभुः ॥ १८७ ॥

पञ्चपुराणे पञ्चमखण्डे त्रिचत्वारिंशत्तमोऽध्याये—

मीमन् उवाच—

अनीकदमुदमेतदि नारमिह(एव)मिदिना । माहात्म्यं त्वन्मुपाद् ब्रह्मन् शुभ परममद्भुतम् ॥

यस्य हिरण्यकशिपु अयान् ब्रह्मरीदवरः । यद्वययार्चयि देवानो हृदयानि विक्रमन्त्र ॥ २ ॥

यद्भयाद् वाति वातोऽपि मन्दं मन्दरयो रविः । नाति प्रतापं कुरुते प्रजासंयमनो यमः ॥३॥  
यत्प्रजाभ्यो विभ्यतीव तथेन्द्रो वरुणोऽपि च । तदाज्ञायां स्थिता(सेन्द्रा)देवाश्चात्यन्तपीडिताः ॥  
भवन्ति लोकत्रितयं यद्वशे निखिलं स्थितम् । एवं विधोऽपि यो दैत्यो हिरण्यकशिपुर्महान् ॥

विदारितो नखाग्रैश्च नारसिंहेन विष्णुना ।

नारसिंहस्य माहात्म्यं विस्तरेण त्वयेरितम् । समासाद् भव माहात्म्यं भैरवस्याभिधीयतान् ॥

क्या कथा, क्या भाव, क्या भाषा, यहां तक कि श्लोकों की आनुपूर्वी में भी पद्मपुराण का यह उपाख्यान मत्स्यपुराण के उपाख्यान से मिलता-जुलता है । ध्यान से पढ़ जाइये आप भांप जायगे कि पद्मपुराण का रचयिता आँख बन्द करके मत्स्यपुराण के पन्ने उठा कर अपनी पिटा रो में सजा रहा है अथवा यों कहिये कि इन दोनों के रचयिता अपने से पूर्व विद्यमान किसी एक ही प्रपुराण ( Ur-Purana ) से अपनी अपनी सामग्री उठा रहे हैं, किंतु इस सामग्री को वहां से लेते समय इतना भी भूल गए कि इसे अपनी बनाने के लिये इस पर अपने व्यक्तित्व का जामा तो सजा दें । यह दशा है जिसमें कि वर्तमान पुराण हमारे संमुख आये हुए हैं । इनके संपादन में अत्यन्त विवेक एवं परिश्रम की आवश्यकता है ।

पद्मपुराण के षष्ठ खण्ड के ६५ वें अध्याय में नृसिंह चरित का वर्णन फिर आता है—  
जो कि प्रस्तुत चम्पू के कथानक से सर्वांशतः मिलता-जुलता है—इसी के आधार पर सूर्य दैवज्ञ पण्डित ने अपने चम्पू की रचना की है । कथा यों है—

## पद्मपुराण षष्ठ खण्ड अध्याय २६५

रुद्र उवाच—

भ्रातरं निहतं ज्ञात्वा हिरण्यकशिपुस्ततः । तपस्तेपे महादैत्यो मेरोः पार्श्वे च मां प्रति ॥१॥  
दिव्यवर्षसहस्राणि वायुभक्षो महाबलः । जपन्पञ्चाक्षरं मन्त्रं पूजयामास मां शुभे ॥ २ ॥  
ततः प्रहृष्टमनसा तमबोचं महानुरन् । वरं वृणीष्व दैतेय यत्ते मनसि वर्त्तते ॥

ततः प्रोवाच दैतेयो मां प्रसन्नं शुभानने ॥ ३ ॥

हिरण्यकशिपुरुवाच—

देवासुरमनुष्याणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् । पशुपक्षिभृगाणां च सिद्धानां वै महात्मनान् ॥४॥  
यक्षविद्याधराणां च किंनराणां तथैव च । सर्वेषामेव रोगाणाम् आयुधानां तथैव च ॥

सर्वेषाम् ऋषिमुख्यानामवध्यत्वं प्रयच्छ मे ॥ ५ ॥

रुद्र उवाच—

एवमस्त्विति तद्रक्षस्त्वन्नवं प्रियदर्शने । मत्तो महावरं प्राप्य स दैतेयो महाबलः ॥ ६ ॥  
जित्वा महेंद्रं देवांश्च स त्रैलोक्येश्वरोऽभवत् । सर्वांश्च यक्षभागांश्च स्वयमेवाग्रहीद् बलात् ॥  
त्रातारं नाधिगच्छन्ति देवतास्तेन निर्जिताः । तस्यैव किंकराः सर्वे गन्धर्वा देवदानवाः ॥६॥

यथाश्च नागाः सिद्धाश्च तस्यैव वशवर्त्तिनः । उत्तानपादस्य सुता कल्याणी नाम कन्यकाम् ॥  
उपयेने विधानेन दैत्यराजो महाबलः । तस्यां जानी महातेजा प्रह्लादो दैत्यराट् शुभे ॥१०॥  
अनुरक्तो ऋषीन्द्रेण गर्भवासेऽपि यो हरौ । सर्वावस्थामु वृत्तेषु मनोवाक्कायकर्मभिः ॥११॥

नान्य जानाति देवेशात्पद्मनाभात् सनातनात् ।

म कान्ते चोपनीतः सन् गुरुगेहेऽवमत् सुधीः ॥ १२ ॥

अधीत्य सर्ववेदांश्च शास्त्राणि विविधानि च । कर्मिभश्चित्कथ काले च गुरुरासद् दैत्यज ॥  
पितुः समीपमागत्य वचन्दे विनयान्वितः । त परिश्रवज्ज वाहुभ्या तनय शुभलक्ष्मणम् ॥

अङ्गे निधाय दैत्येन्द्रः प्रोवाचेद गुचिस्मिन्ने ॥ १४ ॥

द्विरण्यकशिपुस्वाच—

प्रह्लाद चिरकाल त्व गुरुगेहे निवेशित । यदुक्तं गुरुणा वेध तन्ममाचक्ष्व सुमत्र ॥ १५ ॥

इद उवाच—

इति पृष्टो स्वपित्रा वै प्रह्लादो जन्मवैश्वरः । प्राह दैत्येन्द्रवर प्रोत्या वचन कर्तुषापहन् ॥१६॥

प्रह्लाद उवाच—

यो वै सर्वोपनिषदामर्थं पुरथ ईश्वरः । त वै सर्वगर्भं विष्णु नमस्तुत्वा मवीमि ते ॥ १७ ॥

इद उवाच—

इति विश्वस्मन्व शुन्वा दैत्यराट् विस्मयान्वितः । उवाच त गुरुं रोषात् किं त्वयोक्त ममात्मजे ॥

ममात्मजस्य दुर्बुद्धे हरिसम्भवमीदृशम् । किमर्थमुक्तवान्जाह्न्यमकार्यं माम्भोवितम् ॥ १९ ॥

अध्यान्य मदभिप्रस्य स्तवमेव ममाग्रतः । कालेतापि वृत्त क्षन्तव्यप्रमादाद् द्विजाधम ॥२०॥

इत्युक्त्वा परितो वीक्ष्य दैत्यराट् शोबमूर्च्छितः ।

प्राह दैत्यानमो विप्रो बध्नतामिति गच्छतः ॥ २१ ॥

इदुक्त्वा राक्षसा क्रुद्धा कष्टवेपथ ( दन्धन ) रज्जुभिः ।

बन्धुम्न द्विजवर भृश दैत्येन्द्रराट्परा ॥ २२ ॥

बध्नमान गुरु इष्टा प्रह्लादो ब्रह्म-प्रियः । उवाच पितरं तान इद मे नोत्तवान् गुरुः । २३ ॥

वृत्रया देवदेवस्य शिक्षितोऽग्नि हरेः प्रभोः । नान्यो गुरुर्ने बदति न एव प्रेरको हरिः ॥

श्रोत्रा मन्ता तथा वक्त्रा दृष्टा सर्वग ईश्वरः । हरिरेवाशुभं कर्त्तुं नियन्ता सर्वदेहिनाम् ॥

तस्मादनागमो विप्रो मोक्षयो मे गुरुः प्रभो ॥ २५ ॥

इद उवाच—

इति पुत्रवचः श्रुत्वा द्विरण्यकशिपुस्मन्त्रः । त ब्रह्मण मोक्षयित्वा स्वस्मिन् प्राह विरमदात् ॥२६॥

द्विरण्यकशिपुस्वाच—

किं वाम त्व भ्रमस्यैव मिथ्यावर्त्तयद्विजन्मनः ।

शो विष्णु किं नु तद्रूपं कुन्तामो मन्दिनो हरिः ॥ २७ ॥

अहमेवेश्वरो लोके त्रैलोक्याधिपतिर्मतः । मामेवार्चय गोविन्दं त्यज शत्रुं दुरासदम् ॥ २८ ॥  
अथवा शङ्करं देवं रुद्रं लोकगुरुं प्रभुम् । अर्चयस्व सुराध्यक्षं सर्वैश्वर्यप्रदं शिवम् ॥ २९ ॥  
त्रिपुण्ड्रधारणं कृत्वा भस्मना दैत्यपूजितम् । पूजयित्वा महादेवं पाशुपतोक्तमार्गतः ॥ ३० ॥

रुद्र उवाच—

इति दैत्यपतेर्वाक्यं श्रुत्वा दैत्यपुरोहिताः ॥ ३१ ॥

पुरोहिता ऊचुः—

एवमेव महाभाग कुरुष्व वचनं पितुः । त्यज शत्रुं कैटभारिं पूजयस्व त्रिलोचनम् ॥ ३२ ॥  
रुद्रात्परतरो देवो नास्ति सर्वप्रदो नृणाम् । पिता तवापि तस्यैव प्रसादादीश्वरोऽभवत् ॥ ३३ ॥

रुद्र उवाच—

इति तेषां वचः श्रुत्वा प्रह्लादो जन्म वैष्णवः ॥ ३४ ॥

प्रह्लाद उवाच—

अहो भगवतः श्रेष्ठं यन्मायामोहितं जगत् ।

अहो वेदान्तविद्वांसः सर्वलोकेषु पूजिताः ॥ ३५ ॥

ब्रह्मणा अपि चापल्याद् वदन्त्येवं मदान्विताः । नारायणः परं ब्रह्म तत्त्वं नारायणः परम् ॥

नारायणः परो ध्याता ध्यानं नारायणः परम् ।

गतिर्विश्वस्य जगतः शाश्वतः स शिवोऽच्युतः ॥ ३७ ॥

धाता विधाता जगतो वासुदेवः सनातनः । विश्वमेवेदं पुरुषः तद् विश्वमुपजोवति ॥ ३८ ॥

द्विर्ण्यवपुर्नित्यः पुण्डरीकनिभेक्षणः । श्रीभूलीलापतिः सौम्यो निर्मलो शुभविग्रहः ॥ ३९ ॥

तेनैव सृष्टौ ब्रह्मेशौ सर्वदेवोत्तमाबुभौ । तस्यैवाज्ञां पुरस्कृत्य वर्तेते ब्रह्मशङ्करौ ॥ ४० ॥

भीषाऽस्माद्वाति पवनो भीषोदेति दिवाकरः । भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥

आसीदेको हरिर्देवो नित्यो नारायणः परः । न ब्रह्मा न च ईशानो न च चन्द्रदिवाकरी ॥

न द्यावापृथिव्यौ च नक्षत्राणि दिवोकसः । तस्य विष्णोः परं धाम सदा पश्यन्ति सूरयः ॥

एवं सर्वोपनिषदामर्थं हित्वा द्विजोत्तमाः । रागाल्लोभाद्वाप्यन्यत्र मतिमानसाः ॥ ४४ ॥

तं सर्वरक्षकं देवं त्यक्त्वा सर्वेश्वरं हरिम् । कथं पापण्डमाश्रित्य पूजयामि च शङ्करम् ॥ ४५ ॥

लक्ष्मीपतिं देवदेवमनन्तं पुरुषोत्तमम् । इन्दीवरदलश्यामं पद्मपत्रायतेक्षणम् ॥ ४६ ॥

श्रीवत्सलक्षितोरष्कं सर्वाभरणभूषितम् । सदाकुमारं सर्वेषां नित्यानन्दसुखप्रदम् ॥ ४७ ॥

कृष्णं ध्यायेन् महात्मानो योगिनः सनकादयः । यमर्चयन्ति ब्रह्मेश शक्राद्या देवतागणाः ॥ ४८ ॥

यस्य पत्न्याः कटाक्षार्धदृष्ट्या हृष्टा दिवोकसः । ब्रह्मेन्द्ररुद्रवरुणयमसोमधनाधिपाः ॥ ४९ ॥

यन्नामस्मरणादेव पापिनामपि सत्वरम् । मुक्तिर्भवति जन्तूनां ब्रह्मादीनां सुदुर्लभा ॥ ५० ॥

स एव रक्षकः श्रीशो देवानामपि सर्वदा ।

तमेव पूजयिष्यामि लक्ष्म्या संयुतमीश्वरम् । प्राप्स्यामि सुसुखे नैव तद्विष्णोः परमं पदम् ॥

रुद्र उवाच—

इति तस्य वच. श्रुत्वा हिरण्यकशिपुस्तनः ।

क्रोधेन महताद्विष्टो जज्ज्वालाम्भिरिवापरः । परितो वीक्ष्य दैतेयानित्याह क्रोधमूर्च्छितः ॥५३॥

हिरण्यकशिपुस्त्वाच—

भीयणै शस्त्रसङ्घानै प्रह्लाद पापकारिणम् । समाश्रया घातयध्व शत्रुभूजनतत्परम् ॥ ५३ ॥

रक्षिता हरिरेवेति वक्ष्यते तेन वै बलात् । अदं व मण्डल तस्य पश्येय हरिरक्षमम् ॥ ५४ ॥

रुद्र उवाच—

ततो धृताखा दैतेया हन्तु दैत्येश्वरानजम् । परिवार्यं महात्मान तस्युदैत्येश्वराशया ॥ ५५ ॥

प्रह्लादोऽपि तथा विष्णुं ध्यात्वा हृदयपङ्कजे । जपत्रयाभ्र अन्त्र तन्धौ गिरिरिवापरः ॥५६॥

त जह्नुः परितो वीरा शूलनीमरशक्तिभि । प्रह्लादस्य वपुस्तत्र हरिसस्मरणाच्छुभे ॥५७॥

विष्णोः प्रभावाद् दुर्धर्यं वज्रभूतमभूद् भृशम् । अथ सप्राप्य तद् गात्र महात्मानि सुरदिशाम् ॥

द्विधामनि च धिनीं पेतुनीं शोचन्तलानि वै । अल्पमप्यस्य नद् गात्र भेत्तुं दैत्या न च क्षमाः ॥

विभिमतावाद्मुत्पास्तस्युदैत्यराशोऽन्निके मयाः ।

तादृग्विध महात्मान दृष्ट्वा पुत्र तमत्रगम् ॥ ६० ॥

विस्मय परम गत्वा दैत्यराट् क्रोधमूर्च्छितः ।

आदिदेश ततः सर्पान्दिन्द्रशूलान् महाविधान् ॥ ६१ ॥

बासुकिप्रभृतीन् भोगान् सन्दधध्वमिति ब्रुवन् ।

आदिष्टास्तेन राशाऽथ ते नागाः सुमहाबलाः ॥ ६२ ॥

ज्वलित्वास्या महार्भामारुत च्छादुर्मंशबलम् । गरुटध्वजमकृत् न विदधय गरुत्पाशुनाः ॥६३॥

निर्विषादिदधदशना बभूवुरनिलाशनाः । वीनतेयमहस्त्रेण च्छिद्रशगाशाः सुविप्रलाः ॥ ६४ ॥

प्रदुद्रुद्विंसः सर्वा वमन्तो गरिर भृशम् । तादृग्विधान् महासर्पान् दृष्ट्वा दैत्यपतिस्तदा ॥

आदिदेश ततः क्रुद्धो दिग्गजास्तु मदाभिवान् ।

भोदिशारवेन राज्ञोऽथ दिग्गजाश्च मशोदताः ॥ ६६ ॥

परिवार्यं त जघ्नुर्दन्तैः पृथुतरैश्चम् । अथ दिग्गजदन्ताश्च च्छिद्रप्रसूलापनन्नुवि ॥ ६७ ॥

दन्तैर्विना कृता नागा मृशानां विप्रदुद्रुवुः ।

तान्दृष्ट्वाऽथ महामागान् दैत्येन्द्रः कृपितो बली ॥ ६८ ॥

प्रज्ज्वाल्य महाबद्धी विश्वेव सुतमात्मन । जलशायिमिष दृष्ट्वा प्रह्लाद हृष्यवाहनः ॥ ६९ ॥

न ददाह च त धीर प्रशान्तो ह्यभवच्छिदनी ।

अदक्षमान त बाल दृष्ट्वा राजा सुविरिमत ॥ ७० ॥

प्रादात्तमै विषं धीर सर्वभूतहर तदा । तस्य विष्णोः प्रभावाथ विषमप्यमृत भवेत् ॥ ७१ ॥

अर्पणास्तस्य देवस्य तदेवामृतमस्तुते । एवमाद्यैर्बोधोपायैर्वीररूपैः मृशालीः ॥ ७२ ॥

भोददित्वाऽऽत्मत्रं तस्यावध्वान्यभेक्ष्य च । ततः सप्राट् सुर्वं प्राह दैत्यराट् विस्मयाकुष्टः ॥७३॥

हिरण्यकशिपुर्वाच—

त्वया विष्णोः परत्वं च सम्यगुक्तं ममाग्रतः ।

व्यापित्वात्सर्वभूतानां विष्णुरित्यभिधीयते ॥ ७४ ॥

योऽसौ सर्वगतो देवः स एव परमेश्वरः । तस्य सर्वगतत्वं वै प्रत्यक्षं दर्शयस्व मे ॥ ७५ ॥  
 ऐश्वर्यशक्तितेजांसि ज्ञानवीर्यबलानि च । पश्येयं तस्य परमं रूपं गुणविभूतयः ॥ ७६ ॥  
 सन्त्यग्दृष्ट्वा प्रयत्नेन विष्णुं मन्ये दिवोकसम् । मम प्रतिबलो लोके नास्ति देवेषु कश्चन ॥  
 ईशानवरदानेन सर्वभूतेष्ववध्यताम् ।

प्राप्तवान् सर्वभूतानां दुर्जयत्वं च मानद । ईश्वरत्वं लभेद्विष्णुर्मा जित्वा बलवीर्यतः ॥ ७८ ॥

महादेव उवाच—

इति तस्य वचः श्रुत्वा प्रह्लादः प्राह विस्मितः । हरेः प्रभावं दैत्यस्य कथयामास सुव्रतः ॥

प्रह्लाद उवाच—

योऽसौ नारायणः श्रीमान् परमात्मा सनातनः । वसनात्सर्वभूतेषु वासुदेवः स उच्यते ॥  
 सर्वत्यापि जगद्धाता विष्णुरित्यभिधीयते । न किञ्चिदस्मादन्यत्र जगत्स्थावरजङ्गमम् ॥ ८१ ॥  
 सर्वत्र चिदचिद्वस्तु रूपं तस्यैव नान्यथा । त्रिपाद्व्याप्तिः परव्योम्नि पादव्याप्तिरिहाच्युतः ॥  
 योऽसौ चक्रगदापाणिः पीतवासा जनार्दनः ।

योगिभिर्दृश्यते भक्त्या नामक्त्या दृश्यते क्वचित् ॥ ८३ ॥

द्रष्टुं न शक्यो रोपाट्टे मत्सराद्यैर्जनार्दनः । देवतिर्यङ्मनुष्येषु स्थावरेऽपि च जन्तुषु ॥ ८४ ॥  
 व्याप्य तिष्ठति सर्वेषु क्षुद्रेष्वपि महत्सु च ॥ ८५ ॥

महादेव उवाच—

इति प्रह्लादवचनं श्रुत्वा दैत्यवरस्तदा । उवाच रोपताम्राक्षो भर्त्सयन्त्वसुतं मुहुः ॥ ८६ ॥

हिरण्यकशिपुर्वाच—

असौ सर्वगतो विष्णुरपि चेत्परमः पुमान् । प्रत्यक्षं दर्शयस्वाद्य बहुभिः किं प्रलापितैः ॥ ८७ ॥  
 इत्युक्त्वा सहसा दैत्यः प्रासादस्तन्ममात्मनः । ताडयामास हस्तेन प्रह्लादमिदमब्रवीत् ॥

हिरण्यकशिपुर्वाच—

अस्मिन्दर्शय तं विष्णुं यदि सर्वगतो भवेत् ।

अन्यथा त्वां वधिष्यामो मिथ्यावाक्यप्रलापिनम् ॥ ८९ ॥

महादेव उवाच—

इत्युक्त्वा सहसा खड्गमाकृष्य दितिजेश्वरः । प्रह्लादोरसि चिक्षेप हन्तुं खड्गेन तं रुषा ॥ ९० ॥  
 तस्मिन्क्षणे महाशब्दः स्तम्भे संश्रूयते भृशम् ।  
 संवर्तशानिसंरावैः खमिव स्फुटितान्तरम् ॥ ९१ ॥  
 तेन शब्देन महता दैत्यश्रोत्रविधातिना । सर्वे निपातिता भूमौ छिन्नमूला ह्य द्रुमाः ॥ ९२ ॥

विभ्यति सप्लुत दैत्या मेनिरे वै जगत्त्रयम् ।

तत स्तम्भे महातेजा निष्क्रान्तो वै महाहरिः ॥ ९३ ॥

चकार सुमहाघोर जगत्क्षयकर स्वनम् । तेन नादेन महता तारकाः पतिता भुवि ॥ ९४ ॥

नृमिह वपुरास्थाय तत्रैवाऽऽविरभूद्धरिः । अनेककोटिर्मुर्धाग्नितेजसा घुममावृतः ॥ ९५ ॥

मुष्टे पञ्चाननप्रख्यं शरीरे मानुषाकृति । दशकरालवदन स्फुरज्जिहावरोद्धतः ॥ ९६ ॥

ज्वालावह्निवेशान्नस्तप्तालातेषुणो विभुः । सहस्रबाहुभिर्दीर्घैः सर्वायुधसमन्वितैः ॥ ९७ ॥

वृन्दो मेरुनिवासानि बहुशारानगान्वितः । दिव्यमालाम्बरधरो दिव्याभरणभूषितः ॥ ९८ ॥

तस्यै नृकेमरी तत्र सहर्तुं सर्वदानवान् । तं दृष्ट्वा घोरसकाश नारमिह महाबलम् ॥ ९९ ॥

[ दग्धाक्षिपक्ष्मो दैत्येन्द्रो विज्जलाङ्गः पपात ह ।

प्रह्लादोऽथ तदा दृष्ट्वा नारमिहोपम हरिम् ॥ १०० ]

जयन्धेन देवेश नमदचक्रे जनार्दनम् । ददर्श तस्य गात्रेषु नृसिंहस्य महान्मनः ॥ १०१ ॥

लोकान्ममुद्रान्सदीपान् सुरगन्धर्वमानुषान् । अण्डजानां सहस्रं तु सताम्रे तस्य दृश्यते ॥

दृश्यन्ते तस्य नेत्रेषु मोमसूर्वादयस्तथा ।

[ वर्णयोरदिवनौ देवौ दिशश्च विदिशस्तथा ॥ १०३ ॥ ]

ललाटे ब्रह्मरद्री च नभो वायुदव नासिके ।

शन्द्राग्नी तस्य वक्त्रान्ते जिह्वायां च सरस्वती ॥ १०४ ॥

दशानु सिंहशाङ्कलशरमाश्च महोरगाः ।

वण्ठे च दृश्यते मेघः स्कन्धेष्वपि (न्धेऽपि च) महाद्रयः ॥ १०५ ॥

देवनिर्घण्टमनुष्याश्च बाहुष्वपि महात्मनः ।

नाभौ चास्यान्तरिक्षं च पादयोः पृथिवी तथा ॥ १०६ ॥

रोनस्वोपपद्य सर्वाः पादया नलपत्तिषु । नि श्वासेषु च वेशश्च साङ्गोपाङ्गसमन्विताः ॥ १०७ ॥

आदित्या वसतो रुद्रा विधेदेवा मरुद्गणाः । सर्वाद्रूपं प्रदृश्यन्त गन्धर्वाम्बरसथ ये ॥ १०८ ॥

इत्थं विभूतयस्तस्य दृश्यन्ते परमात्मनः । श्रीवत्सकौस्तुभोरस्कं वननालाविभूषितम् ॥

शङ्खचक्रगदासङ्गशाङ्खाद्यैर्हैतिभिर्भुजैः । सर्वोपनिपदाभयं दृष्ट्वा दैत्येश्वरात्मजः ॥ ११० ॥

हर्षाश्रुजलमिच्छाङ्गं प्रणामं मुहुर्मुहुः । दैत्येन्द्रस्तु हरिं दृष्ट्वा श्रीधान्युत्सवशैः स्थितः ॥ १११ ॥

योद्धुं गद्गं मनुष्यस्य नृमिहं तमथाद्रवत् ॥ ११२ ॥

खान्यायुधानि चादाय हरिं जम्बुत्वरान्विता । पल्लवाकाण्डानि यथा वह्नौ क्षिप्तान्यनेरुतः ॥

तथैव भरमतां याति महान्यायुधानि वै । तान्यनेकानि दैत्यानां दृष्ट्वा नरहरिस्तदा ॥

सदैर्ददाह च ज्वालामालाविरचितस्फुटैः । नृकेमरिसद्योद्भूतवह्निना दानवा भृशम् ॥ ११५ ॥

निर्भङ्गिताः क्षणात् सर्वे निःशेष तदभूद् बलम् ।

प्रह्लाद सानुगं हित्वा मरिमते रक्षमा बन्धे ॥ ११६ ॥

श्लेषं दैत्यपतिं सहगमाहृष्यान्यप्रपद्यत । सहगहनं तु दैत्येन्द्रं जग्राहेकेन बाहुना ॥ ११७ ॥

पातयामास देवेदो यथा शाखा महानिलः । गृहीत्वा पतिनं भूमौ महाकाय नृकेमरी ॥ ११८ ॥

स्वोत्सङ्गे स्थापयित्वा च ददर्शासौ मुखं हरेः (हरिः) ।

विष्णुनिन्दाकृतं पापं तथा वैष्णवद्वेषजम् ॥ ११९ ॥

नृसिंहस्पर्शनादेव निर्भस्मितमभूत्तदा । अथ दैत्येश्वरस्यासौ महद्गात्रं नृकेसरी ॥ १२० ॥  
 नखैर्विदारयामास तीक्ष्णैर्वज्रनिभैर्धनैः । स निर्मलात्मा दैत्येन्द्रः पश्यन्ताक्षान्मुखं हरेः ॥ १२१ ॥  
 नखैर्निभिन्नहृदयः कृतार्थो विजहावसून् । तद्गात्रं शतधाभित्वानखैस्तीक्ष्णैर्महाहरिः ॥ १२२ ॥  
 आकृष्यान्त्राणि दीर्घाणि कण्ठे संसक्तवान् प्रियात् । अथ देवगणाः सर्वे मुनयश्च तपोधनाः ॥  
 ब्रह्मरुद्रौ पुरस्कृत्य शनैः स्तोतुं समाययुः । ते प्रसादयितुं भीता ज्वलितं विश्वतोमुखम् ॥ १२४ ॥  
 मातरं जगतां धार्त्रीं चिन्तयामासुरीश्वरीन् । हिरण्यवर्णां हरिणीं सर्वोपद्रवनाशिनीम् ॥ १२५ ॥  
 विष्णोर्नित्यानवधाङ्गीं ध्यात्वा नारायणीं शुभाम् । देवीसूक्तं जपन्ती वै नमश्चक्रुः सनातनीम् ॥  
 तैश्चिन्त्यमाना सा देवी तत्रैवाऽऽविरभूत्तदा । चतुर्भुजा विशालांक्षी सर्वाभरणभूषिता ॥ १२७ ॥  
 दुकूलवस्त्रसहिता दिव्यमालानुलेपना । तां दृष्ट्वा देवदेवस्य प्रियां सर्वे दिवौकसः ॥ १२८ ॥  
 ऊचुः प्राञ्जलयो देवीं प्रसन्नं कुरु ते प्रियम् । त्रैलोक्यस्याभयं स्वामी यथा दद्यात्तथा कुरु ॥

महादेव उवाच—

इत्युक्त्वा सहसा देवी प्रियं प्राप्य जनार्दनम् । प्रणिपत्य नमस्कृत्य प्रसीदेति उवाच तम् ॥

तां दृष्ट्वा महिषीं स्वस्य प्रियां सर्वेश्वरो हरिः ।

रक्षःशरीरजं क्रोधं तत्याज स तु तत्क्षणात् ॥ १३१ ॥

अङ्गमादाय तां देवीं समाश्लिष्य दयानिधिः । कृपासुधारद्दृष्ट्या वै निरैक्षत महाहरिः ॥ १३२ ॥  
 ततो जय जयेत्युच्चैः स्तुवतां नमतां तदा । तद्यथादृष्टिं तुष्टानां सानन्दः संभ्रमोऽभवत् ॥  
 ततो देवगणाः सर्वे हर्षनिर्भरमानसाः । ऊचुः प्राञ्जलयो देवं नमस्कृत्य जगत्पतिम् ॥ १३४ ॥

देवा ऊचुः—

द्रष्टुमत्यद्भुतं तेजो न शक्तास्ते जगत्पते । अत्यद्भुतमिदं रूपं बहुबाहुपदाङ्कितम् ॥ १३५ ॥  
 जगत्त्रयं समाक्रान्तं तेजस्तीक्ष्णतरं तव । द्रष्टुं स्थातुं न शक्ताः स्म सर्व एव दिवौकसः ॥

महादेव उवाच—

अत्यथितस्तु विबुधैस्तेजस्तदतिभीषणम् । उपसंहृत्य देवेशो बभूव सुखदर्शनः ॥ १३७ ॥  
 शरत्कोटीन्दुसंकाशः पुण्डरीकनिभेक्षणः । सुधामयसटापुञ्जविद्युत्कोटिनिभः शुभः ॥ १३८ ॥  
 नानारत्नमयैर्दिव्यैः केयूरैः कटकान्वितैः । बाहुभिः कल्पवृक्षस्य शाखौघैरिव सत्फलैः ॥ १३९ ॥  
 चतुर्भिः क्रोमलैर्दिव्यैरन्वितः परमेश्वरः । जपाकुसुमसंकाशैः शोभितः करपङ्कजैः ॥ १४० ॥  
 शङ्खचक्रगृहीताभ्यामुद्वाहुभ्यां विराजितः । वरदामयहस्ताभ्यामितराभ्यां नृकेसरी ॥ १४१ ॥  
 श्रीवत्सक्रौस्तुभोरस्को वनमालाविभूषितः । उद्यद्दिनकरामाभ्यां कुण्डलाभ्यां विराजितः ॥  
 हारकेयूरकटकैर्भूषणैः समलङ्कृतः । सव्याङ्गस्थप्रिया युक्तो राजते नरकेसरी ॥ १४३ ॥  
 लक्ष्मीनृसिंहं तं दृष्ट्वा देवताः समहर्षयः । आनन्दाश्रुजलैः सिक्ता हर्षनिर्भरचेतसः ॥ १४४ ॥  
 आनन्दसिन्धुमग्नास्ते नमश्चक्रुर्निरन्तरम् । अर्चयामासुरात्पेशं दिव्यपुष्पसमर्पणैः ॥ १४५ ॥



रत्नकुम्भैः सुधापूर्णैरभिषिच्य सनातनम् । वस्त्रैरामरणैर्गन्धैः पुष्पैर्धूपमनोरमैः ॥१४६॥  
 दिव्यैर्निवेदितादीपैरर्चयित्वा नृकेसरिम् (१) । तुष्टुबुद्धिव्यस्तुतिभिर्नश्वकुमुदकुमुदुः ॥१४७॥  
 ततः प्रसन्नो लक्ष्मोऽस्नेषामिष्टान्वरान्ददौ । ततो देवगणैः सार्धं सर्वेशो भक्तवत्सलः ॥१४८॥  
 प्रह्लाद सर्वदैत्यानां चक्रे राजानमव्ययम् । आश्वास्य भक्त प्रह्लादमभिषिच्य सुरोत्तमैः ॥  
 ददौ तस्मै बरानिष्टान् भक्तिं चाव्यभिचारिणीम् । ततो देवगणैः सार्धं स्तूपमानो नृकेसरी ॥  
 विकीर्णः पुष्पवर्षेस्तु तत्रैवान्तरधीयत । ततः सुरगणाः सर्वे स्व स्व स्थान प्रपेदिरे ॥१५१॥

पुनश्च यज्ञभागाश्च तुमुजुः प्रीतिमानसाः ।

ततो देवाः सगन्धर्वाः निरातङ्गाऽभवन्तथा ॥ १५२ ॥

नरिमन्हते महादेत्ये सर्वे एव प्रहर्षिता । प्रह्लादस्तु तदा चक्रे राज्य धर्मेण वैष्णवः ॥१५३॥  
 हरेः प्रसादलब्ध तु वैष्णव राज्यमुत्तमम् । बहुभिर्यज्ञदानाद्यैरर्चयित्वा नृकेसरिम् ॥१५४॥  
 काले हरिपद प्राप्तो योगिगम्य सनातनम् । एतत्प्रह्लादचरित ये तु शृण्वन्ति नित्यतः ॥१५५॥  
 ते सर्वे पापनिर्मुक्ता यास्यन्ति परमा गतिम् । एतत्ते क्वचित् देवि नृसिंह वैभवं हरेः ॥

शेषां च वैभवावस्था शृणु देवि यथाक्रमम् ॥ १५६ ॥



## कथा-सार

कथा का सार यों है:—

भगवान् रुद्र पार्वती से बोले कि अपने भाई हिरण्याक्ष को युद्ध में मरा देख हिरण्यकशिपु को दारुण संताप हुआ और उसने दिव्य सहस्र वर्ष पर्यन्त श्री शंकर की अर्चना की। शंकर ने प्रसन्न होकर उससे शष्ट वर मांगने को कहा जिस पर उसने देव-दानव, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर आदि सभी से अवध्यता का वर माँगा। शंकर 'तथास्तु' कह कर चले गये।

अवध्यता का वर पाकर दैत्यराट् अभिमान में चूर हो मनमाने अत्याचार करने लगा और यज्ञ में देवताओं को दिये जाने वाले भाग को भी स्वयं ही भोगने लगा। इन्हीं दिनों उसने उत्तानपाद की कल्याणी नामक कन्या से विवाह किया जिससे उसे विष्णुभक्त प्रह्लाद नामक पुत्र का लाभ हुआ।

प्रह्लाद की शिक्षा-दीक्षा यथाविधि संपन्न हुई और वह गुरुकुल से सब विद्याओं में निपुण होकर घर लौटा।

घर आते ही पिता ने उसे गोद में ले लिया और उससे पूछा कि तुमने गुरुकुल में क्या-क्या सीखा है। प्रह्लाद ने अपनी कथा विष्णु को नमस्कार करके आरम्भ की। किन्तु विष्णु का नाम सुनते ही हिरण्यकशिपु के कान खड़े हो गये और वह तड़क कर बोला कि 'यह विष्णु कौन है जिसका नाम तुमने इतने प्रेम से लिया है।' उसकी विष्णुभक्ति का दोष गुरु के माथे मढ़ कर दैत्यराट् ने गुरु के वध की आज्ञा अपने भृत्यों को दी; किन्तु प्रह्लाद ने यह कह कर कि 'इसमें गुरुजी का क्या दोष? यह तो मेरी अपनी ही सहज भक्ति है' अपने गुरु की रक्षा की। तब दैत्यराट् प्रह्लाद से बोला कि विश्व में विष्णु का क्या काम? इसका पालक एवं संहर्ता तो मैं हूँ—तुम मेरी पूजा करो—और यदि तुम्हें मेरे से पृथक् ही देव की वन्दना करनी है तो श्री शंकर की आराधना करो, जिन्होंने कि मेरा मनोरथ साधा है। विष्णु को मन से मुला दो; वह है ही कहाँ कि तुम उसे पूजो?' किन्तु कल्याण-मार्ग के पथिक प्रह्लाद ने पिता की एक न सुनी—उसे तो जग के कण-कण में विष्णु की लीला देख रही थी; जिधर देखो वहाँ उसे उन्हीं का रास चलता देख रहा था। उसने फिर पिता के सम्मुख विष्णु का स्तव आरम्भ कर दिया। दैत्यराट् के क्रोध का पारा उद्धल गया और उसने दैत्यों को प्रह्लाद का वध करने की आज्ञा दे दी।

दैत्यराट् का आदेश होना था कि प्रह्लाद पर अस्त्र शस्त्रों की बौध्दार पहने लगी—उसे पहाड़ से गिराया गया, माँपों से कटवाया गया, दिग्गनों से कुचलवाया गया—यहाँ तक कि उसे अग्निकुण्ड में डाल दिया गया। किन्तु निमक्का बर्म स्वयं विष्णु भगवान् बन गये हों उस पर चोट कैसी ? दैत्यों के अस्त्र कुण्ठित हो गये, पहाड़ रार बन गए, मान गिजाइ बन गए, दिग्गन हिरण्य बन गए और अग्निकुण्ड से झोते फूट निकले—विष्णु का वैभव ! उसके चेरे को श्राँच कैसी ?

इत्या के मन्त्री उपर्यों को प्रह्लाद पर बेकार होने देव दैत्यराट् से न रहा गया और वह स्वयं स्तब्ध लेकर उस पर लपका और बोला 'कहाँ है अब मेरा वह विष्णु ! बुला उसे मामने ! यदि वह सर्वन्यायक है तो क्यों नहीं निकलना मामने के हम स्तम्भ से ? अब तुम न हो और तुम्हारा विष्णु न होगा ! दोनों ही मेरी तलवार से खन रहेंगे !' यह कहकर उसने अपनी दाक्षिण तलवार प्रह्लाद पर फेंक दी। तलवार का प्रह्लाद तक पहुँचना था कि राम्भे से दिव्य नाद हुआ और उसी के साथ उसमें से नृसिंह आविर्भूत हो गये। प्रह्लाद उस अवतार का दर्शन करते ही गद्गद हो उसकी आराधना में लग गये, किन्तु दैत्यगण उसके विजली मरे रूप को देख भाग पड़े हुए, और कुछ वहाँ पर गिर पड़े। किन्तु हिरण्यकशिपु तो शेर की मज्जा पर पला था—वह न डरा और न विचलित हुआ, उल्टा राट्ग उठाकर नृसिंह पर शपथ, किन्तु उसके आने से पहले ही नृसिंह ने अपने पंनों से उसे चीर डाला। हिरण्यकशिपु के गिरते ही सार दैत्य ठट पड़ गये।

नृसिंह का क्रोध पराकाष्ठा पर जा लगा था, जगती उसे देव धरती उठी और देवताओं ने महालक्ष्मी का आराधना करके उसे मनके सम्पुण भेजा। भगवती का दर्शन पाकर नृसिंह शन्न हो गये, और उन्हें अपनी अङ्गु में बिठारर उन्होंने शांति मुद्रा से देवताओं की ओर देगा। देवताओं को प्रसन्न देखकर उन्होंने उग्र रूप त्यागकर अपने दयार्थ सौख्यमय रूप को धारण कर लिया। तब देवता प्रसन्न होकर 'जय जय' बोल उठे।

हम धरना ने प्रह्लाद की भक्ति को चार चौद लण दिखे और उसकी नसन्म में अब विष्णु का भक्ति रम गए। उसका यथाविधि राजनिलक हुआ और लक्ष्मी का मस्पर्ती पाकर उसकी भक्ति और भी निगर उठी।

पद्मपुराण का यह कथांश कुछ कालों में अनूठा है। हमने भगवान् ने प्रह्लाद पर होने वाले अत्याचारों से रौंदकर नृसिंहवत्तर धारण किया और हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद को विष्णुभक्ति छोड़ कर की आराधना करने की बरन्वार मज्जा दी, जो कि उसका अस्तिहत्या का परिचायक है। उसका यह कथन —

अथवा शरर देव श्द्र लोक गुरं प्रमुम् ।

अर्चदरर सुराप्यथ सर्वैश्वर्यप्रद शिवम् ॥

उसकी आस्तिक भावना का उवलन्त प्रतीक है। किन्तु शैवों और वैष्णवों में वधार्थ-तत्त्व को न पहचानने के कारण झगड़ा होता रहा है—एक सन्प्रदाय रुद्र-शंकर का पुजारी रहा है तो दूसरा सन्प्रदाय मनोरञ्जक शंकर (= विष्णु) की आराधना करता आया है। एक ने भगवान् के दारुण रूप की नीराजना की है तो दूसरे ने उसके रुचिकर लोक-संग्राहक रूप की अर्चना की है। मत्स्यपुराण के प्रस्तुत उपाख्यान में (शंकर के दारुण रूप का परित्याग करके) विष्णु के दारुण रूप की उत्थानिका की गई है और बताया गया है कि विष्णु ही समय-समय पर भक्तभयहरण के लिये दारुण रूप धारण करते हैं।

वह हुआ पद्मपुराण का नृसिंहावतार-वर्णन। सूर्यदैवज्ञ ने इसी के आधार पर अपने चम्पू का निर्माण किया है और विष्णु-स्तवन को ही ज्ञान-विज्ञानों का तार मान कर अपने जीवन का चरम लक्ष्य इसे ही बनाया है।

उद्धृत पुराणखण्डों में कौन सा पूर्व और कौन सा बाद का है इसका निर्णय करना कठिन है, किन्तु यदि उत्तरोत्तर विकास-क्रम को कसौटी मान लिया जाय तो कुछ निम्न प्रकार की रूपरेखा उभरती दीखेगी।

'हिरण्यकशिपु के वधार्थ नृसिंहावतार हुआ' इस बात पर सभी पुराण एकमत हैं। अतः कथा का मूलतत्त्व इस बात को मान लिया जाय तो अनुचित न होगा। इसी एक रेखा के द्वारा सब कथाखण्डों में तात्त्विक एकता उभरती है।

सब से पहले ब्रह्मपुराण को लीजिये; इसमें इसी मूलतत्त्व का मुख्य रूप से प्रतिपादन है। हिरण्यकशिपु की आततायिता के कारण नृसिंह का अवतार हुआ वस यही इस पुराणांश का प्रतिपाद्य विषय है। यहां न तो नृसिंह का वैशिष्ट्य ही अभिषेय है और न प्रह्लाद की विष्णुभक्ति ही।

इसके बाद स्कन्दपुराण के कथाभाग को लीजिये—इसमें नृसिंह-तीर्थ का वर्णन करके मूलकथा में वैशिष्ट्य का समावेश किया गया है। सब पूछिये तो इसमें नृसिंह-तीर्थ का वर्णन अपेक्षित है न कि नृसिंह के माहात्म्य का प्रतिष्ठान। फलतः वह कथाभाग ब्रह्म-पुराण के बाद का दीख पड़ता है।

इसके अनन्तर ब्रह्माण्ड तथा वासु-पुराण को रखा जाय तो अनुचित न होगा। इन पुराण-खंडों में मूलकथातत्त्व के साथ प्रह्लाद का नामोल्लेख समाविष्ट है। भागवत आदि पुराणों में प्रह्लाद ही की उपनायक के रूप में प्ररोचना की गई है।

प्रस्तुत कथा का चतुर्थ संस्करण हमें कूर्मपुराण में होता दीख पड़ता है—इसमें प्रह्लाद हमारे संमुख एक भक्त पात्र के रूप में आते हैं—जो कि पहले-पहल पिता के आदेश पर भगवान् नृसिंह से युद्ध करते हैं, पर जब उनके सारे ही अस्त्र बेकार हो

जाते हैं तब वे विष्णु के भक्त बन जाते हैं। इस प्रकार यहाँ प्रह्लाद एक अभिनायक के रूप में प्रकट होते हैं।

इसके अनन्तर हम मत्स्य एवं पद्मपुराण के कथाओं को रतेंगे। इन उपाख्यानो में प्रह्लाद भगवान् नृसिंह के विराट् रूप का दर्शन पाते हैं और उनके हृदय में विष्णु भक्ति का स्रोत फूट पड़ता है। वहाँ वे पिता के आदेश पर विष्णु से युद्ध नहीं करते—अपितु अपने पिता को विष्णु की महिमा बताते हुए उनके सामने आते हैं। इन दोनों पुराणों में दैत्यराज की सभा का विस्तृत एवं मनोरञ्जक वर्णन है और उसके प्रचण्ड क्रोध एवं तज्ज्वलित उपप्लव का पड़कना विचित्र है।

पद्मपुराण के षष्ठ्याद का कथा भाग हम उपाख्यान का चरम संस्करण प्रतीत होता है। श्रीमद्भागवत एवं नृसिंहपुराण आदि में भी इससे मिलना-जुलना उपाख्यान उपलब्ध होता है। यहाँ पहुँच हिरण्यकशिपु, नृसिंह आदि सभी प्रह्लाद की विष्णुभक्ति में कीड़े पड़ जाते हैं और वही एक ज्वलन्त नक्षत्र की न्याई आकाश में प्रकाशमान दीपक पड़ते हैं। अथ से इति तक सारी ही कथा यहाँ प्रह्लाद के चहुँ ओर घूमती है। शैव वैष्णव का भेद भी यहाँ पहुँच कर भारी पड़ जाता है—पिता यदि शंकर की आराधना का हामी है तो पुत्र विष्णु की पूजा पर निर्वन्ध दिखाता है। यहाँ आकर नृसिंहावतार के मूल में भी भेद पड़ जाता है, अन्य पुराणों में नृसिंहावतार का कारण प्रजा एवं देवताओं पर किये गये हिरण्यकशिपु के अत्याचार हैं तो यहाँ उसका कारण पिता के हाथों प्रह्लाद पर किये गये अत्याचार हैं।

सूर्य दैवज्ञ ने अपने चम्पू का निर्माण इसी कथा के आधार पर किया है।

वैदिक काल से ही भारतीय भाषों ने अनेकता को दुरा एकता में आनन्द ढूँढा है और शमीलिय उन्होंने ज्ञान के उन्मेष में इन्द्र, मित्र वरुण, यम आदि सभी देवताओं का पर्यवसान एक महान् देव में किया है, जिसका नाम कि उन्होंने ब्रह्म (= बड़ा) रखा है। उसी की रोज़ एवं उसी एक में तमय हो जाने में उन्होंने अपने जीवन की इति कर्मन्वयता मानी है। और यह बात है भी हमारे अनुभव के अनुकूल ही—क्योंकि जब तक एक प्राण्य अपने प्रियतम से मिल्कर नदास्त नहीं हो जाता तब तक प्रेम रम अनछना रहता है और इन दोनों की सच्चा एकता के परम रम में सराबोर न हो जाने के कारण कुछ छिन्नी सी, कुछ बड़की सी, अपनी असली जगह से कुछ सरकी मा इधर-उधर भटकती रहती है। उपनिषदों ने 'द्वितीयाद् वै भय भवति' इसी लिए कहा है।

प्रेम का आकर्षण प्राणी के लिए वचना ही स्वामयिक है जितना कि पानी के लिये बड़ना और वायु के लिये चञ्चलता। किंतु वह चाह किम काम की जिमका विचित्र नदर हो—नदर का मिठास तो अविनाशी से उधार लिया हुआ है। उसका अपना

कुछ भी नहीं है। इसी लिए मनीषियों ने आदि काल से ही उस अविनाशी तत्त्व से दिल लगाया है जो त्रिकालावाहित है, और जो सत्, चित्, आनन्द का घन रूप है। आह्लाद के इसी मूल स्रोत को तत्त्वज्ञानियों ने परमात्मा (= महान् आत्मा) कह कर पुकारा है।

यह परम तत्त्व इन्द्रियों की पहुँच से अतीत है, किन्तु क्या कहना इसकी करामात का? इस अव्यक्त ने अपने जादू से इस व्यक्त को प्रकट किया है—और क्योंकि व्यक्त करने के समय उस अव्यक्त के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं था, इस लिये कह सकते हैं कि उस अव्यक्त ने अपने आप को ही इस व्यक्त प्रपञ्च के रूप में प्रकट किया है। वस, अद्वैतवाद की भित्ति व्यक्ताव्यक्त के इसी भेदाभेद पर निर्भर है।

संक्षेप में अव्यक्त व्यक्त के रूप में प्रपञ्चित हुआ—यह कब हुआ और इसका अन्त कब होगा—इन समस्याओं से एक समझदार व्यक्ति को क्या? अव्यक्त का व्यञ्जन होना ही था और व्यक्त को एक दिन अव्यक्त बन ही जाना है—इसमें मानव का क्या चारा? हमारा नाता तो वर्तमान के साथ है; हमें तो वर्तमान प्रपञ्च के अन्तस्तल में पहुँच उसकी सतह ढूँढ़नी और वहाँ अपना वसेरा डालना है।

इस व्यक्त प्रपञ्च को चलाने वाले तत्त्व को मनीषियों ने विष्णु कहकर पुकारा है—क्योंकि विष्णुतत्त्व इस प्रपञ्च के कण-कण में व्याप्त है और वह इसे संतत किसी अज्ञात दिशा की ओर ले जा रहा है, या कहिये कि स्वयं विष्णु भगवान् इस विशाल प्रपञ्च रूपी देह को धारण किये हुये किसी अज्ञात पद की ओर तेजी से चले जा रहे हैं। यह अनन्त प्रपञ्च, यह विपुल काय, यह असीम शक्ति जो इसे तेजी से आगे बढ़ा रही है—मानव के आश्चर्य के लिए पर्याप्त से अधिक है। फिर इसके किसी एक कण को ध्यान से देखिये—कितने रंग हैं उसमें, कितनी भगियाँ हैं उस एक में, कितनी अदाएँ, कितनी चित्तवर्नें और कितना मिठास है उस एक में। गुलाब की एक पंखड़ी को लीजिये—गिनिये उसके रेशों को और परखिये उसके मुसकराते रंगों को—वे कितने हैं, कैसे हैं—कितने चुप हैं पर कितना अधिक बोल रहे हैं वे अपनी उस मौन मुद्रा में? गुलाब की पंखड़ी के रेशे की चुप्पी में ब्रह्माण्ड का अमित रव भरा हुआ है। और यदि गुलाब के स्मित मौन तन्तु में आपको आनन्दमद नहीं मिल पाता तो आप अपने प्रियतम की पुतली के एक रेशे को निहारिये। कितना मादक महान समुद्र उमड़ रहा है उसमें? उसकी लहरों में आप झूल रहे हैं—उनमें आप सुतरां खोए जा चुके हैं किन्तु फिर भी आप सब कुछ कर रहे हैं। इस जीने-न जीने, रहने-न रहने को ही माया कहते हैं। इसी असीम मायावरण को छाती पर लिए हुए विष्णु भगवान् किसी अज्ञान दिशा की ओर आगे बढ़ रहे हैं। हमें अपनी चाल को उनको चाल में भिलाकर एक कर देना है—अपने तिल समान देह को उनके विपुल काय में लीन कर देना है—क्योंकि वस्तुतः

दोनों एक हैं—हम उम्मी विपुल ज्वालामाल के शील मात्र हैं, उसका विस्फारमात्र है।

यह हुआ बेशर्तों का अद्वैत। रामानुज ने हमरा विशिष्टाद्वैत के रूप में, निम्बार्क ने द्वैताद्वैत के रूप में, मध्व ने द्वैतवाद के रूप में और बल्हम ने शुद्धाद्वैतवाद के रूप में प्रमाणन किया है, जब कि शंकर का नितान्त अद्वैत सभी वादों की छांटियों को पार करके पक्व के परम पद पर ना लगा है—हिंदु पूजा उममें भी प्रतीयमान प्रवर्तमान परम तत्त्व ही की है। बल्हदेव के अचिन्त्य भेदाभेदवाद में भी विष्णुतत्त्व हा की प्रतीचना हुई है, जब कि एक मात्र श्रीकृष्ण शैवाचार्य ने अपने ब्रह्ममूय माध्य में शिवरूप चरम तत्त्व की उत्थानिका वरके उम्मी में विलीन हो जाने में अपने जीवन को मार्थक माना है। बड़ने का आशय यह है कि अद्वैत की विशद रचनाग विष्णु के नाभिकमल मे प्रवाहित हुई है—क्योंकि परम तत्त्व का वर्तमानकालिकरूप विष्णु है और एक मानव का पहुँच वर्तमान काल के साथ है न कि अतीत अथवा भविष्यत् के साथ।

वर्तमान के साथ उत्पन्न हुए हमारे 'सहितपन' में ही साहित्य का उन्मेष हुआ है। कह सकते हैं कि जो वाणी परम तत्त्व के साथ मानव का 'सहितपन' अथवा तादात्म्य उमारती है मन्वा साहित्य वही है। शाश्वत तत्त्व के साथ 'सहितपन' ज्ञान चर्चा से नहीं होता, विशान से नहीं होता, वह तो विर्मा टहनी हुई उक्ति के द्वारा उन्नीत होता है जो अलकारिणी प्रक्रिया में छन-छन कर, परिष्कृत हो-हो कर इनकी लचीली लम्बा बन गई है कि शाश्वत तत्त्व का मारा ही व्यक्तित्व उममें समा गया है, उममें प्रतिफलित, सचिन एवं उन्मिषित हो गया है। इस प्रकार की उक्ति कवि के अन्तरात्मा से निकल विश्व के किमी एक बिन्दु पर पडता और उमे इनन त्रिपुल आकार में परिवर्तित वरके हमारे समुत्त पेश करती है कि उसमें विष्णु का व्याकरूप झटक जाता है और उसके असीम सौन्दर्यमय व्यक्तित्व का वह का केन्द्र बन जाता है जिसे कि कवि आपकी आँसों में बमाना चाहता है। और क्योंकि अब हम बिन्दु में विष्णुरूप अपार मागर भर गया है इसलिये अब यह बिन्दु भी अमर बन गया है—यावत्तन्द्रदिवाकर महर्षियों को पिराने और हमाने वाला बन गया है। साहित्य का यथार्थ मर्म रमी बात में है।

आप जिसे दिल से चाहते हैं उसे देखते नहीं, उसे तो आप अपनी आँसों से पिया करते हैं। आँसों द्वारा देखने पर गन्ने का गीला बड़ा मनोरम टील पडता है। गन्ने के अग्रभाग का सुकुमार टर्णों में विभक्त होना हवा में नाचना और आकाश में इसना पव बतियाना किना प्यारा मालुम पडता है। किन्तु जब आप गन्ने को चूमठ और निठाम के उन्नाद में उसकी पोरी पोरी के टुकडे का टाछन है तब आप गन्ने को देखन नहीं, उसे पीते हैं। और यह पीना किना स्वर्गिय है? किनी गगणों का रम इनने मरा हुआ है। हम रम को आप चमते हैं बना नहीं सकते, क्योंकि यह आपका अपना भाग है और अपने आप को आप किसी के सामने कैसे रखेंगे? देखने की प्रक्रिया

आपको एक अनोखी, किरणों में उतराती-सी लोकोत्तर आकृति दिखाता है तो पीने की प्रक्रिया आपको दृश्यमान आकृति का ध्वंस करके एक ऐसी आकृति का निर्माण करने में सशक्त करती है जो सुतरां वायुमयी या किरणमयी लजीली आकृति है, पर फिर भी जिसकी पोरी पोरी में मादक रस जोश मार रहा है; आपका अपना आपा छलक रहा है। इस रस के साथ आप एक हो जाते; पानी में नमक की न्याई आप उसमें घुल-मिल जाते; और आपके रोम-रोम में एक अनोखी पीर फिरने लगती है; जिसे हम साहित्य की पीर कह कर पुकारा करते हैं। आचार्यों ने इसका नाम रसात्ताव रखा है।

हमारे पुराणों में रस के उद्भव का अत्यन्त मनोरम वर्णन आता है। बृहद्मन्त्र पुराण के ४३ वें अध्याय में स्वर्गलोक में गंगा अपनी जयमाला शिवजी को पहनाती हैं—प्रकृति-पुरुष के उस अनोखे सम्मिलन पर नारदमुनि एकत्र हुए देवगणों को एक ऐसी दिलकश तान सुनाते हैं जो धरती, अंबर को वेध श्रोताओं को अनिर्वचनीय आनन्द में सराबोर कर देती है और तब शिव-गंगा, देव-दानव, गन्धर्व-किन्नर सभी सगीत की पीर में झूम पड़ते हैं। ४४ वें अध्याय में राग और रागिनियों का मार्मिक विश्लेषण किया गया है—इन्हें सुन कर विष्णु का अन्तरात्मा दैवी रस में फूट पड़ता है और जगती का कण-कण उस रस में सराबोर हो जाता और उसमें इतना और ऐसा रस भर जाता है कि अब आप किसी भी विन्दु पर अपनी कविता की चोट मारिये उसी विन्दु से आपके सम्मुख पावन वैष्णव रस का स्रोत फूट निकलेगा। यह वैष्णव रस जगती के नाना जन-जनपदों में, उपवनों-आरामों में, खेतों और खलिहानों में वन की डाली-डाली में और घर की वाली-वाली में समान रूप से भर गया। ब्रह्मा ने लालायित होकर इस पावन रस को अपने कमण्डलु में भर लिया जिसमें कि गंगा जी पहले ही विद्यमान थीं। अब गंगा की बूँद-बूँद में यह दैवी रस समा गया और उनके तट पर लगीं प्रवाहित होने शाश्वत साहित्य की विशद धाराएँ, जिनसे भारत का कण-कण कूक उठा। वैष्णव रस को पुराणों ने वासुदेव कह कर पुकारा है—गोपियों के साथ उन्होंने इसी वैष्णव रस का रास रचाया है। वासुदेव का ही दूसरा नाम पुराणों ने स्कन्द बताया है जिनकी उत्पत्ति शिव जी के वीर्य से अग्नि के द्वारा गंगा में हुई थी। इस प्रकार आप देखते हैं कि किस प्रकार संगीत, साहित्य, वैष्णव रस, वासुदेव-गोपी-रास, वासुदेव-कुमार एवं शिव तथा गंगा साहित्य के एक तन्तु द्वारा आपस में मिल कर एक हो गए हैं—इन सब की एकता में ही यथार्थ रस का प्रादुर्भाव होता है—इस प्रादुर्भाव का सर्वोत्तम साधन एवं माध्यम यथार्थ साहित्य है।

हमारे वेद भी यथार्थ साहित्य हैं—किन्तु उनके साहित्य रस पर आध्यात्मिकता की पपड़ी जम गई है—देवपूजा की चादर ने उनके रस को ढक लिया है। साथ ही धर्म की भावना उनमें बलवती है—जिसके परदे में उनका साहित्यिक पहलू कुछ दब सा गया



है। किंतु वेदों की यह कमी हमारे हृदय काव्य में पूरी हो गई है और लक्षण शास्त्र के प्रवर्तक भरत मुनि ने रस की चर्चा नाटक का रस लेने वाले दर्शकों के हृदय में अभिनय की दस्तकर उद्बुद्ध होने वाले आह्लाद के रूप में विस्तार के साथ की है।

वैदिक युग में अभिनय का अभीष्ट प्रचार था और वधों चलने वाले प्रलम्ब सत्रों के मध्य मनोविनोदार्थ अभिनय रचे जाया करते थे जिनमें कि वेद में आने वाले आख्यानसूक्त वार्तालाप का काम दिया करते थे। स्वस्थ समाज में मनोविनोद का साधन मुग्धतया अभिनय हुआ करता है—इस अभिनय का वैदिक युग में पूरा चलन था। भरतमुनि ने अभिनय प्रक्षकों के हृदय में प्रवाहित होने वाले साहित्यिक रस का निरूपण करके अभिनय की प्राचीनता पर अच्छा संकेत किया है।

शनै शनै भारतीय आर्यों का उल्लाम मन्द पहता गया और उनका अभिनय पीका पहने के साथ साथ कम भी होता गया, यहाँ तक कि एक युग ऐसा आया जब कि अभिनय राजाओं के दरबार की चारदीवारी में सीमित हो गया। अब हृदयकाव्य के स्थान पर ध्वज काव्य का महत्त्व उमरा और लाक्षणिकों ने अब उसी के द्वारा होने वाली रसनिष्पत्ति पर बल देना आरम्भ कर दिया।

भारत ने रस की साहित्य का हृदय मानते हुए अलङ्कारों को उसके प्ररोचक के रूप में माना है। भास ने अपने काव्यालङ्कार में 'शब्दार्थयुगल' को काव्य बनाकर भरतप्रतिपादिन दस गुणों का भोज, माधुर्य तथा प्रमाद इन तीन गुणों में समावेश करते हुए वक्रोक्ति को समस्त अलङ्कारों का मूल बनाया और दस प्रकार के दोषों का विशद विवेचन किया है। भास की विवेचना में रस कुछ गौण बन गया है और अलङ्कारों की प्रधानता मिल गई है—जो कि उनके बाद सातवीं सदी में होने वाले आचार्य दण्डी की रचना काव्यादर्श में अधुण बनी रही है। दण्डी ने काव्यादर्श के प्रथम परिच्छेद में काव्य का लक्षण, भेद, वैदमी तथा गौडी रीति, एव दस गुणों का वर्णन किया है, दूसरे परिच्छेद में अलङ्कारों के लक्षण एव उदाहरण दिये हैं, तीसरे में शब्दालङ्कारों का विशद वर्णन किया है और चौथे में दस दोषों के लक्षण एव उदाहरण दिये हैं। इन्होंने अपनी रचना में पहली बार रीति पर प्रकाश डाला है।

वासन ने रस रीति ही को काव्य का आत्मा बताने हुए शमे चमकाने वाले अलङ्कारों का अपने काव्यालङ्कारसूत्र में मार्मिक निरूपण किया है। इन्होंने वैदमी, गौडी, एव पांचाली ये तीन रीतियाँ मानी हैं, वक्रोक्ति का अच्छा विवेचन किया है, और समस्त अलङ्कारों को उपमा का प्रपञ्च माना है।

वासन के मनकालीन आचार्य उद्भट ने अलङ्कारशास्त्र का समर्थन करते हुए अपने काव्यालङ्कारमार्मप्रद नामक ग्रंथ में ४१ अलङ्कारों का सप्रपञ्च निरूपण दिया है जिमकी रघु ने अपने 'काव्यालङ्कार' में विशद प्ररोचना की है।

इन आचार्यों के बाद आचार्य आनन्दवर्धन आते हैं। इन्होंने अपने ध्वन्यालोक में ध्वनि को काव्य का आत्मा बताते हुए उसी की विधाओं का मार्मिक विश्लेषण किया एवं आचार्यों का रख अलङ्कारशास्त्र से मोड़ कर ध्वनितत्त्व की ओर आकृष्ट किया है। इनके ध्वन्यालोक पर आचार्य अभिनव गुप्त ने ध्वन्यालोकलोचन नाम की मार्मिक टीका लिखी और अपनी अनूठी रचना अभिनवभारती के द्वारा भरत के नाट्यशास्त्र की ओर आचार्यों का ध्यान आकृष्ट किया।

कुन्तक ने अपने वक्रोक्तिजीवित में काव्य का आधार वक्रोक्ति को सिद्ध किया जब कि महिममट्ट ने अपने 'व्यक्तिविवेक' में ध्वनि को अनुमान का ही एकरूप ख्यापित किया। आचार्य धनञ्जय ने अपने दशरूपक के द्वारा नाट्य की ओर जनता का ध्यान फिर से आकृष्ट किया।

भोजराज ने अपने सरस्वतीकण्ठाभरण में एवं शृङ्गारप्रकाश में शृङ्गार को ही सब रसों का मूल बताते हुए रस की मार्मिक विवेचना की और अलंकार एवं गुण-दोषों को सहायक के रूप में उपस्थित किया।

आचार्य मम्मट का काव्यप्रकाश ध्वनिवाद के समर्थन में अनूठा उपकरण बनकर काव्यशास्त्र में अवतीर्ण हुआ, जब कि प्रख्यात आचार्य क्षेमेन्द्र ने अपनी औचित्य-विचारचर्चा में औचित्य ही को काव्य का आधार बताया है। रुयक ने १२ वीं सदी में अलङ्कारसर्वस्व लिखकर अलङ्कारों पर फिर से जोर दिया; हेमचन्द्र के 'काव्यानुशासन' में यही प्रवृत्ति अनुप्राणित हुई। १४ सदी में कविराज विश्वनाथ ने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ साहित्यदर्पण लिखा और उसमें काव्य का लक्षण 'काव्यं रसात्मकं वाक्यम्' बताकर रस की फिर से पुष्टि की। पंडितराज जगन्नाथ ने अपने रसगङ्गाधर में इसी रस का अन्तिम परिपाक किया।

यह हुआ संस्कृत काव्यशास्त्र का छोटा सा सिंहावलोकन। भरत के साथ इसका प्रारम्भ रस में हुआ है और पंडितराज जगन्नाथ की रचना रसगङ्गाधर के साथ इसका पर्यवसान भी रस में हुआ है। जगन्नाथ ने अपनी रचना का नाम 'रसगंगाधर' रख कर साहित्यिक रस के आधारभूत वैष्णव रस की ओर मार्मिक संकेत किया है जो कि 'रसगङ्गा' इस समस्त पद से व्यक्त है। प्रस्तुत चम्पू के निर्माता सूर्य देवश को रसमार्ग ही मान्य था और उन्होंने अपने चम्पू में इसी वैष्णव रस की अनेक विधाओं का अनूठा उत्थापन किया है।

इस प्रकार हमने देखा कि साहित्य के अन्ततल में प्रवाहित होने वाला रस आह्लाद-रूप है और वह परम वैष्णव रस का ही स्थूलरूप है। परम वैष्णवरस—और उसके द्वारा साहित्यिक रस समानरूप से कण कण में विद्यमान है—साहित्य इसी की प्ररोचना करता और श्रोता एवं दर्शक के हृदय में इसी रस का उन्नयन करता है।

किन्तु इस रस की व्यापकता ही इस रस पर आश्रित हुए साहित्य के लक्ष्यों का दोष है, क्योंकि टीक इसी रस की उत्थानिका संगीत को सुनकर, पटकने चित्र को देख कर एवं दुःख-दर्द एवं हर्षोल्लास की बीचियों में उभरने वाली मूर्ति को देख कर दर्शक के हृदय में हो जाती है। साहित्य के आत्मा रस को इसी दृष्टि से बाद के आचार्यों ने साहित्य का आत्मा बना कर साहित्य को ललित कलाओं की परिधि में पृथक् करने के लिए उसके लक्ष्यों में कमी वक्रोक्ति पर, कमी अनुमान पर और कमी ध्वनि पर बल दिया है— जो कि सब के सब समान रूप से अन्य ललित कलाओं में न मिल कर एक मात्र रसरत्ना साहित्य में उपलब्ध होते हैं। और इस प्रकार तब कि भरत ने साहित्य के आत्मा रस को साहित्यिक जनता के सम्मुख रखा था वहाँ बाद के आचार्यों ने साहित्य के शुद्ध रूप का आधिक विदलेपन करके उस अन्य ललित कलाओं से पृथक् करन हुए उसका रूप सुस्थिर एवं अतिव्याप्ति द्रोष से बरी कर दिया है। हमारे साहित्यदर्शन के क्रमिक विकास की रूपरेखा कुछ इस प्रकार की है—इसे हृदयगत करके लक्षणशास्त्र का अध्ययन करने पर उसमें एक अनूठी व्यापकता उभर आती है जो कि हमें लक्षणशास्त्र के आज तक के अध्ययनों में नहीं देख पड़ती।

## काव्यशास्त्र का मूल और स्वरूप

ऋग्वेद के दशम मण्डल के १७७ वें सूक्त का दूसरा मंत्र वाणी के उद्गम की तान अवस्थाओं पर मार्मिक प्रकाश डालता है —

पतङ्गो वाच मनसा विमर्ति ता गन्धर्वोऽवहद् गर्भे अन्त ।

तां दोत्रनानां स्वय मनीषाम् ऋतस्य पदे कवयो नि पान्ति ॥

मंत्र सूर्यपरक है, किन्तु अनायास ही यह कवि की आविष्ट वाणी पर पड़ जाता है। वाणी का उद्गम संक्षेप में इस प्रकार है—प्रतिमा की अग्नि में तपकर कवि पतङ्ग अर्थात् सूर्य का रूप धारण कर लेता है और अपने दैवी आवेश के द्वारा वह जगता के कण कण में नव जीवन फूँक देता है। प्रतिमाविद्युत् का बटन टबन ही उसके अन्तर् में वाणी के अङ्कुर पूर निकलने हैं। वाणी की यह अवस्था परा कर्ता है। प्रतिमान की दूसरी स्टेज पर कवि गन्धर्व अर्थात् गौरूप वाणी को धारण करने वाला बन जाता है और इस स्थिति में उसकी वाणी बर्षों में व्याप्त होने के लिए आग बढ़ती है, उसकी यही अवस्था मध्यमा है। प्रतिमा की तृतीय अवस्था में पहुँच कर कवि की वाणी सवागपूर्णा बन कर वर्ण-पद-वाक्य में विस्तार आती है और अपनी लहरियों में वह ससार को मरमिन् करने वाले 'ऋत' को तरङ्गित कर देती है। इस ऋतरूप रस को विश्व में प्रकाशित करना और जगती के कण कण को उसमें सराबोर कर देना ही सच्चे कलाकार की वाणी का परम लक्ष्य है। वाणी की इसी अवस्था को हम वैसरी मन्दा देते हैं।

मंत्र का पहला शब्द 'पतङ्ग' कवि के अंतस् में उद्योत होकर जलने वाली प्रतिभाग्नि के व्यापार को उपलक्षित करता है। इस दैवी अग्नि के जल उठने पर कवि की भौतिकता उसमें मस्म हो जाती है और नितरां सूक्ष्म रह जाने के कारण कवि जीवन के आदिस्त्रोत 'रहस्' तत्त्व के साथ एकाकार हो जाता है। रहस् के साथ तदात्म होते ही कवि उसके तेज से आविष्ट होकर पतङ्ग (सूर्य) की न्याईं दमकने लगता है और उसकी गति चराचर में उसी प्रकार निर्वाध हो जाती है जैसे कि स्वयं सूर्य भगवान् की। दैवी आवेश का स्नेहभरा धक्का कवि को रमसा रवि रूप में बदल देता है और अब वह अनायास ही उस विश्वसंगीत की तान छेड़ देता है जिसके कारण सूर्य भगवान् का नाम रवि अर्थात् 'शब्द उत्पन्न करने वाला' पड़ा है। रवि शब्द की व्युत्पत्ति ६ धातु से है, जिसका अर्थ 'शब्द करना' है। वेदों के अनुसार भुवनभास्कर 'रवि' वेदत्रयी के जन्मदाता हैं; इडा, सरस्वती और भारती के वे आदिस्त्रोत हैं; और अव्यक्त को व्यक्त रूप देनेवाले स्फोट के वे परम निधान हैं। हमारे पुराणों ने 'रवि' के लयवाही रूप को बार-बार प्रशंसा की है और विश्व के आर्ष कवि वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, दांति, शैक्षसपीयर एवं गेडे आदि ने कवि को विश्वसंगीत का जन्मदाता कहकर उसकी आरती उतारी है।

रवि-रूप कवि अपनी रमः-प्रसूत वाणी की द्वितीय अवस्था में गन्धर्व का रूप धारण कर लेता है और तब उसकी वाणी वर्णपदादि में व्याकृत होने के लिए अग्रसर होती है। तीसरी दशा में पूर्ण रूप से व्याकृत होकर जब उसकी कूक प्रस्फुटित होती है तब वह अनायास ही विश्व को चलाने वाले ऋत की रागात्मक व्याख्या में व्याकृत हो जाती है।

कवि वाणी की इस प्रक्रिया में अथर्ववेद का ४,३३ वां मंत्र एक नई धृदा ला देता है—  
अपूर्वेणेषिता वाचस्तता वदन्ति यथायथम्।

वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति तदाहुर्नक्षिणं महत् ॥

अर्थात् अपूर्व (प्रतिभातत्त्व) के द्वारा प्रेरित हुई कविवाणी जगत् के रहस्यमय रूप को अनावृत करने में समर्थ होती है। वस्तु-तत्त्व के अनावरण में व्याकृत हुई कवि-वाणी का जहाँ पर्यवसान होता है महत् ब्रह्म वही है। कवि की रचना का परम लक्ष्य यह महत् ब्रह्म ही है। मंत्र की पदावलि से स्पष्ट है कि विश्व के रहस्य को वही वाणी व्यक्त कर सकती है जो प्रतिभा के तेज से चमत्कृत हो और जिस में दैवी तवस्त्वरा बस गई हो।

कविता के उद्गम एवं उसके लक्ष्य का निर्देश करते हुए ऋग्वेद का १. १६४,४९वां मंत्र सरस्वती से निम्नलिखित प्रार्थना करता है:—

यस्ते त्तनः शशयो यो मयोभूर् येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि ।

यो रत्नधा वसुविद् य सुदत्रः सरस्वति तमिह धातवे कः ॥

अर्थात् हे वाणी ! तুম मुझे अपना वह शिव एव सौख्यमय, भरपूर स्नन पीने को दो जो अशेष वरणीय पदार्थों का पोषण करनेवाला है, जो रत्नों का दाता, शोभन पदार्थों का प्रापयिता एव अनायाम ही सब कुछ देने वाला है। निःसन्देह वैदिक ऋषियों के अनुसार सरस्वती रसमयी है, और हमारे वेद ने रमसारो सरस्वती में लोकोत्तर निद्रा एव प्रसाद उत्पन्न करने वाले स्नन्य की प्रार्थना करके वाय्व के आत्मभूत रस की ओर संकेत किया है जिसका आस्वादन करके कलाकार तो अमर हो ही जाता है, पर माय ही वह श्रोता एव प्रेक्षक को भी ब्रह्मानन्द में सराबोर कर देता है।

उक्त मन्त्र से स्पष्ट है कि लयसारी वाणी का आत्मा 'रस' है और इसी के उज्ज्वल भण से रससिद्ध कलाकार अपने आप को धन्य करते आए हैं। कवि के आत्मरूप 'रस' का वाक्यान्वयों ने सुन्दर विवेचन किया है।

ऋग्वेद का ८ १००, १० वां और ११ वां मन्त्र वाणी के आत्मरूप पयोरस की ओर फिर से संकेत करता है —

यद् वाग् वदन्त्यविवेचनानि राष्ट्री देवाना निषसाद मन्द्रा ।

चतस्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि क्व त्विदस्या\* परम जगाम ॥

देवी वाचमजनयन्त देवास्ता विश्वरूपाः पशवो वदन्ति ।

सा नो मन्त्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वाग्स्मानुप सुष्टुनेतु ॥

दोनों मन्त्रों में लयवाही वाणी को धेनु नाम से पुकारा गया है और दोनों ही मन्त्रों में इसे मन्द्रा अर्थात् प्रसादक कह कर उसके पयोरस की लोकोत्तरता को व्यक्त किया गया है। लयसारी वाणी के आत्मरूप 'रस' की मन्द्रता एव प्रसादकता को वेद ने तरह-तरह से गाया है और ऐसी सरस्वती के स्नन को शशयु (= शयु\* शी स्वप्ने), शिव ( शी स्वप्ने ), अथवा मौलिक चित्स्थिति में पहुँचाने वाला नत्रा कर उस के रसास्वाद में ही वाणी का पर्यवसान माना है। आविष्ट वाणी के आत्मरूप रस को दण्डी ने इन शब्दों में व्यक्त किया है:—

मधुर रसवद् वाचि वस्तुन्वपि रसः स्थित\* ।

येन माधन्ति धीमन्नो मधुनेव मधुमता ॥ १ ॥

अर्थात् मधुर रस वाणी और अर्थ दोनों में ही सखलित रूप से निवास करता है— क्योंकि ये दोनों तत्त्व मौलिक रूप से परस्पर अभिन्न हैं। इस रस को पीकर मनीषी लोग मौलिक जगत् से ऊपर उठ उनके मूल में पहुँच जाते और वहाँ जाकर अमर हो जाते हैं।

ऋग्वेद का ९ ७८ का पहला मन्त्र गोरस की गरिमा पर फिर से संकेत करता है:—

प्र रात्रा वाच जनपन्नसिन्धुदत् भवो वनानो अभि गा इदक्षति ॥

अर्थात् प्रतिभा के आवेश में चमाचमाता (पतंग) कवि लयसारी स्वर में फूट निकलता है, और तब वह लोकोत्तर क्रियाशीलता की धारण कर के इस वाणी की सेवा में जुट जाता है। कह सकते हैं कि प्रतिभा की अग्नि में गल कर बहने वाला कवि का आत्मा ही वाणी के रूप में फूट निकलता है। आविष्ट रचना के इसी रहस्य को आनन्दवर्धन ने इस प्रकार व्यक्त किया है:—

वाक्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा ।

क्रौंचद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥

अर्थात् आविष्ट आत्मा की निभृत पीर ही किसी दृश्य को देख कर जब पक निकलती है तब कविता का उदय होता है। उस दैवी पीर में पियराया कवि अपने आप को भूल जाता, तब वह किसी लोकोत्तर संविधान में जा पहुँचता, और तब जगती के मूलरस के साथ एक होकर बहने वाला उसका आत्मा ही वाणी के माध्यम से वर्णों में विखरते लगता है। उसकी यह फूट नितांत स्वाभाविक एवं ऋजु होती है और इसीलिये यह अलंकारों की फुलझड़ी में उघड़ती चलती है—क्योंकि आविष्ट कलाकार के अपने ही प्रदीप्त गुण प्रतिभा की सर्चलाष्ट में झिलमिला उठते और अलंकार बन कर उसके प्रयत्न बिना ही, उसकी रचना में सजने लगते हैं। और जब प्रतिभा-विद्युत् का धक्का लगने पर कवि सामने पड़े विश्व की ओर अग्रसर होता है तब वह उसके कण-कण में अलंकारों का मन्त्र फूँकता चलता है और साथ ही अपनी रचना पर भी अलंकारों के पन्ने जड़ता जाता है। वैदिक रचना के अलंकारों का मूल रचना की इसी प्रक्रिया में संनिहित है।

आविष्ट वाणी के आत्मरूप 'रस' के साथ-साथ वेद ने वाणी के रमणात्मक पक्ष पर भी यथेष्ट प्रकाश डाला है। ऋग्वेद का ३. ५५ का ७वां मन्त्र यों है:—

प्र रण्यानि रण्यवाचो भरन्ते ।

अर्थात् रुचिर वाणी वाले ऋत्विक् अथवा कवि रमणीय वस्तु प्रस्तुत करते हैं। और यह बात है भी स्वाभाविक ही—क्योंकि यदि रचना के मूलस्रोत कवि-हृदय में मधु का प्रवाह है तो उसमें से उघड़ने वाले लयसारी वर्णों का भी मधु में सना होना स्वाभाविक है; और मधुसिक्त वाणी वाले भावुकों से मधुसारी रचना ही की आशा की जा सकती है।

काव्यशास्त्रियों के अनुसार रमणीय वाणी का ही दूसरा नाम काव्य है—और यथार्थ काव्य के निर्माता अपनी रचना के माध्यम से अनायास ही विश्व में लावण्यतन्तु फैलाने वाले रमणतत्त्व के साथ तदाकार हो जाते हैं। इसी बात को हम साहित्यिक भाषा में इस प्रकार कह सकते हैं:—

‘रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द. काव्यम्’ ।

‘वाच्य दशमेऽर्थकृते न्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।

सद्य परनिर्वृतये कान्तासमिननयोपदेशयुजे ॥’

बान टोक है—भीठे बोल से क्या नहीं मिल जाता ? फिर यदि कवि-रचता में निटाम मर गया तो उसके लिये कौन सी वस्तु दुःप्राप्य रह जाती है ? यह सब कुछ है, किंतु काव्याचार्यों ने वाणी के इसी एक तत्त्व को काव्य का सर्वस्व मान कर उसी में कविता का पर्यवमान कर दिया । सुवराज ने प्रेम की विवेचना करते हुए ‘रमणीयता’ के माध्यम से उसका ‘शाश्वत सौंदर्य तत्त्व’ में पर्यवमान किया है और नि मन्त्रेह पारवेधी कवि-रचना का यथार्थ लक्ष्य भी यह सौंदर्य तत्त्व है ।

ऋग्वेद के ९ ७३ वा ७वा मन्त्र वाणी के अलंकरण को अनन्त शक्ति का स्रोत बताया है —

सहस्रधारे वितते पवित्र आ वाचि पुनन्ति कवयो मनीषिणः ।

रत्नान पयामिधिरामो अट्टुहः स्पशः स्वचः सुदृशो नृचक्षसः ॥

मन्त्र सोमपरक है, किंतु कवि रचना पर भी यह सहज ही घट जाता है, क्योंकि पारवेधी कलाकार सहस्र कुल्याओं में प्रवाहित होने वाले पावन, सर्वमारी, सोम का शुष्णान करक अपनी वाणी को परिपूत करते और उसे नवोद्गा वधू की न्याई मति-मानि के अलंकारों से चमत्कृत करते हैं । अलंकृत वाणी वाले कवियों की मधुवाही गोनिया विश्व के प्रेरक, प्रियदर्शी, जगत् के चित्तेरे, शोभनगामी रश्मिदेव को भी अपने वश में कर लेती हैं ।

सत्कार को म्ला देने वाले देवताओं को भी अपने निटाम से मोह लेने वाली कवि-रचना का सुन्दर निलम्पन हैः—क्योंकि पहुँची हुई कविता है ही वह जो सूर्य मण्डान के समान जगती के काकण पर छा जाती हो और जिसके पद पद से प्रतिमा की किरणें फूँट पड़ती हों । ऐसी ही पारवेधी आविष्ट कृत् यथार्थ कविता कहा मन्त्रो है और ऐसी ही वाणी पवित्र एव चमत्कृत होने के कारण गायक, श्रोता एव प्रेक्षक के अन्तरात्मा को आविष्ट करने में सक्षम होती है । विद्वत् के आर्ष कवि वाल्मीकि, यदाम, होमर, वाल्मिदाम, दांठि, शेक्सपीयर एव गेटे की रचनाएँ इसी क्रेटि की हैं ।

ऋग्वेद के १० ७२ के दृमरे मन्त्र में वाणी के संस्कार पर बल दिया गया हैः—

सक्तुमिद नित्रउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमन्त्र ।

अत्रा मग्वायः सत्त्वानि जानने मद्रेषा लक्ष्मीनिहिनाधि वाचि ॥

अर्थात् जब बुद्धिमान् कवि, जिस प्रकार ध्यान से अन्न छटा जाता है इस प्रकार अपने मन से वाणी को परिपूत करके उसे रम्य पशवलि के रूप में सजाते हैं, तब विश्व

का प्रसादक लक्ष्मी त्वन माग उनकी रचना में आ विराजती है। भद्र वाणी वाले गायक का चराचर जगत् के साथ सहज ही रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाता और ऐसा ही कलाकार अपनी आविष्ट लय के द्वारा विश्व के अन्तस्तल को निनादित करने में समर्थ होता है।

पवित्रता एवं अलङ्करण के परम स्रोत शाश्वत तत्त्व को मुखरित करने के लिये वाणी का पवित्र एवं मनोहर होना परमावश्यक है। इसी कारण हमारे वैयाकरणों एवं साहित्य-शास्त्रियों ने वाणी के संस्कार पर इतना अधिक और इतनी बार बल दिया है। वेद तो स्थान-स्थान पर 'धुमती' वाणी के लिये प्रार्थना करता है। उदाहरण के लिये देखिये:—

दधामि ते धुमती वाचमासन् । ऋ. वे. १०. ९८. २। १

अस्मे धेहि धुमती वाचमासन् बृहस्पते अनमीवामिधिरान् ।

यथा वृष्टिं शंतनवे वनाव दिवो द्रप्सो मधुमां आ विवेश ॥ १०. ९८. ३

अर्थात् तेरे मुख में प्रकाशमयी वाणी का आधान करता हूँ। हे भगवन्! हमारे मुख में प्रकाशमयी वाणी का आधान करो। ओ बृहस्पति! ऐसी वाणी का, जो आधि-व्याधियों से परे हो, जो जगती के कण-कण में कंपन बहा देती हो, जिसकी स्वर-लहरियों से हम शन्तनु के लिये आकाश से बादल बरसा दें। उस प्रकाशमय सोम का मधुमय विंदु मेरी जिह्वा पर आ विराजा है, मेरा रोम-रोम सोम के मादक रस से भिन्ना उठा है।

अथर्ववेद ६.६९ के द्वितीय मन्त्र ने धुमती के स्थान पर भर्गस्वती शब्द का प्रयोग किया है—

अश्विना सारघेण मा मधुनाङ्गं शुमस्पती ।

यथा भर्गस्वती वाचन् आ वदानि जनां अनु ॥

ओ अश्विन् देवताओ! ओ सुन्दरता के स्वाभियो! मेरे रोम-रोम में मधु भर दो, जिससे मैं जनता के प्रति आजस्वती वाणी का प्रयोग कर सकूँ।

निश्चय ही इन मन्त्रों के द्वारा वाणी में मधु एवं अलंकरण उत्पन्न करने की प्रार्थना की गई है—क्योंकि वेद के अनुसार आविष्ट वाणी में रस एवं अलंकरण दोनों ही उचित मात्रा में होने वांछनीय हैं।

वाणी के उक्त अलंकरण से आगे बढ़ कर दूसरी स्टेज भरत मुनि द्वारा संकेतित एवं अग्निपुराणद्वारा प्रपञ्चित अलंकारशास्त्र है। अलंकारों के विषय में दण्डी ने यों कहा है:—

काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते ॥



वेद ने वाणी में चमत्कार डालने वाले अलंकारों का निराला प्रयोग किया है, और उपमाएँ तो जैसी वेद ने डूढ़ा हैं वैसी अन्यत्र देखने को मिलती ही नहीं। प्रवीण होता है कि वैदिक कूक को सुनकर स्वयं उपमालकार मूर्तिमान् हो उठ बैठा हो। उदाहरण के लिये ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ६६वें सूक्त को—यहां आपको एक से एक बट कर उपमा उघटनी दीम पड़ेगी। सूक्त सूक्त में जुभारियों के क्षण में ऊचा और क्षण में नीचा दिखाने वाले पासों को 'कुमारदेश्ण' अर्थात् बच्चों का तरह क्षट देने और पट छीनने वाले बना कर तो वेद ने उपमा की पराकाष्ठा ही कर दा है। 'शीना सन्तो हृदय निर्दहन्ति' में विरोधामाम की छटा देखते ही बनती है। वेद के किसी भी सूक्त को पढ़ जाइये—उसमें, आपको कोई न कोई अलंकार अपने स्वरूप में निभृत बैठे टार्च की न्याय रचना के शब्द और अर्थ दोनों को भासित करता दीम पड़ेगा। न केवल शब्दालंकार अथवा अर्थालंकार, अपितु दोनों सकलित रूप में वैदिक रचना को एक निराले धरातल पर उठाते दीम पड़ेंगे—और वह भी अपने स्वारमिक रूप में, प्रशान्त किंतु सुगरा दूरगामी, अनजाने ही रचना की कूक-कूक में दिपे बैठे, स्वयं अनदेखे किंतु जगती के कण-कण को सिला देने वाले हैं।

वेदों के अलंकारविन्यास से मुग्ध होकर वाक्याचार्यों ने वाक्य का सर्वस्व ही अलंकारों को मानना आरम्भ कर दिया और उन्हीं के भेदोपभेदों की मीमांसा में उड़ने वाक्य-समीक्षा की रति कर दी।

अथर्ववेद का १० ४ इशवा मन्त्र रहस्यवाद का आदिम सकेत है। मन्त्र यों है —

अन्ति सन्न न जहात्यन्ति सन्न न परयति ।

देवस्य परय काव्य न ममार न जीर्यति ॥

यह कवि रचना की लोकलोकता का अनुठा निर्दर्शन है। प्रतिभा विसृष्ट की क्षमाल में आवर ऊपर उठा कलाकार सामने फैली जगती को छोड़ता भी नहीं और वह उसे देखना भा नहीं है। प्रतिभा के ताप में पिघल कर कवि का आत्मा तरल बन जाता, तब वह सामने के विद्व की प्रतिभाग्नि में गला कर उसके स्थान पर एक नवीन छाया-जगत् का निर्माण करता और परमपद के लिङ्गशरीर के रूप में उसका रस पिया करता है। देवी उन्मेष का रहस्य कवि की रस खोने में पाने वाली महाशक्ति में सप्रतिष्ठित है। रस पारबेधी इष्टि से न्यून गए अर्थ प्रसून और उन्हें शक्य करने वाली कविकृत मचमुच अमर होती है—न वह कमी जीर्ण ही होती और न वह कमी नष्ट ही होती है। क्योंकि अब उसमें निम्नलिखित परम तथ्य का पूरी तरह प्रतिफलन हो गया है कि—

अमरता है जीवन का हास ।

मृत्यु जीवन का चरम विकास । ('पाना' ४८)

और अब वह परिवर्तन के पार शून्य के उस पुलिन पर जा लगी है जहाँ कि सब प्रकार का आदिसूत्र एक गोली के रूप में सिमटा पड़ा रहता है। इस आदिम सूत्र को प्रत्यक्ष करते ही कवि-पदावली की तर्ज बदल जाती और उसका विषय यह स्थूल जगत् न रह कर उसके उर में ज्वार लेने वाला 'कनकरस' बन जाता है।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि कविरचना का लक्ष्य कवि के सम्मुख फैला हुआ भौतिक जगत् नहीं, अपितु उसके अन्तस्तल में प्रवाहित होने वाला लावण्य परिपूर्ण छाया-जगत् है और उसी का समुचित उत्थापन कवि की आविष्ट रचना का प्रमुख लक्ष्य है।

यह तो हुई स्फोट के उस पक्ष की बात, जिसके अनुसार कि इस शब्द का अर्थ नाद के माध्यम से व्यक्त होने वाला पदार्थजात है, जो कि अपने तरल रूप में कविरचना से ध्वनित होता है। अब लीजिए स्फोट शब्द के उस पक्ष को जिसके अनुसार कि पदार्थजात को व्यक्त करने वाला नाद इसका अर्थ है; इस पक्ष में भी कविता का असली रूप कवि की व्यक्त पदावली नहीं, अपितु इस पदावली के माध्यम से ध्वनित होनेवाली वह मूलभूत परम ध्वनि है, जिसकी झंझुति-मात्र से मूल अव्यक्त चराचर जगत् के वर्तमान रूप में बदल जाता है। उसी आदिम नाद की रचना-कारिणी शक्ति कवि-पदावलि में अवतीर्ण होकर उसे नव-नव छाया-जगत् रचने की शक्ति प्रदान करती है और उसमें वह तबस्त्वरा ला देती है जो कि परमात्मा की अपनी रचना में दृष्टिगत होती है।

समग्र वेद को ध्यान से पढ़ जाइये, उसके पद-पद के पीछे आपको एक निराला तोमिल जगत् उभरता दीख पड़ेगा, एक अनोखी दुनिया दूर से झनझनाती सुन पड़ेगी, जिसका कविरचना की स्फुट पदावलि से कोई सम्बन्ध नहीं रहता, किन्तु जो कविकृक के तरङ्गित होते ही रमसा श्रोता एवं प्रेक्षक के संमुख आ खड़ी होती है। और यह बात इसलिए है कि वैदिक कवि ने विश्व के भूतजात को अनुप्राणित करनेवाले चरम सूत्र को आत्मसात् कर लिया है और उसके द्वारा विन्दु में समुद्र को और समुद्र में विन्दु को एकाकार देख लिया है। तभी तो अथर्ववेद के १०. ८ ३७-३८ में यों कहा है:—

यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः ।

सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्यात् ब्राह्मणं महत् ॥

वेदाहं सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः ।

सूत्रं सूत्रस्याहं वेदाथो यद् ब्राह्मणं महत् ॥

चराचर में रमे परब्रह्म को वही जानता है जिसने इस विश्वव्यापी सूत्र को देख लिया है, जिसमें जगती के जन्मजात बुने पड़े हैं और जिसने इसमें जान डालनेवाले उस परम सूत्र को साक्षात् कर लिया है जिसके विषय में महादेवी चर्मा ने निम्नलिखित पंक्तियाँ गाई हैं:—

‘एक तरफ अगणित कथन का एक सूत्र सबके बन्धन का ।  
आदि में छिप जाना अवसान अन्त में बनता नव्य विधान ।  
सूत्र ही है क्या यह ससार गुधे जिसमें सुख दुःख जय-हार ।’

वेदिक कवि कहता है कि मैंने उस सूत्र को देख लिया है जिसमें अशेष जन जनपद ज्वल पड़े हैं, और मैंने इस विस्तृत सूत्रजाल को अनुप्राणित करनेवाले चरम सूत्र को भी देख लिया है । तभी तो मैं कहता हूँ कि मैंने परब्रह्म का माक्षात्कार कर लिया है ।

यथार्थ कवि रचना की इसी व्यापक गहनता को शेक्सपियर ने अपने ‘मिड समर नाइट्स ड्रीम’ में यों व्यक्त किया है —

The poet's eye in a fine frenzy rolling,  
Doth glance from heaven to earth  
from earth to heaven.

And, as imagination bodies forth  
The forms of things unknown, the Smoet's pen  
Turns them to shapes, and gives to airy  
nothing

A local habitation and a name ( Act 5 Sc 20 )

काव्यप्रक्रिया का इससे अधिक मार्मिक एवं यथार्थ वर्णन अन्यत्र कहीं नहीं मिलता क्योंकि शेक्सपियर कविता-कामिनी के मर्मों रमिया थे और उनकी चुन्की-चुन्की में चराचर का आसो-उद्वास केन्द्रित रहा करता था । भारतीय आचार्यों का यह कथन—

अपारे काव्यममारे कविरैक प्रजापति ।  
यथास्मै रोचते विश्व तथेद परिवर्तते ॥

तो शेक्सपियर के प्रत्यक्ष दर्शन का आसाममात्र है ।

हां, तो देमा निराला होता है तावपान में बीराया हुआ एक बलाजार, जिसकी पदावलि कइनी तो कुछ है किंतु आसय जिसका कुछ और ही हुआ करता है । उसकी माया उस लोकालोक पर्वत सी बन जाती है जिस पर आलोक और अंधकार साथ-साथ फैले होते हैं और जहाँ का धरातल कुछ कल्पित-मा, कुछ महमरीचियों में उषटल निशपत्त-मा एक साथ सदसद्रूप हुआ करता है ।

वेद की समग्र रचना कवित्व की उस पारवधी शक्ति से उद्भासित है । इसे पदकर पाठक के सम्मुख एक देमा मंदिर जगत् उषटला है जो भौतिक होने पर भी सुवर्त भूतानीय है, और जो इष्टीलिष्ट सचमुच सुन्दर, शिव एवं परम साथ है ।

कविता के ध्वन्य अर्थ को लेकर काव्याचार्यों ने उसी की मीमांसा में अपनी तर्क-शक्ति की इति कर दी, और कवित्व के उस पक्ष की रुचिरता से कांदिशीक हो वे उसके अन्य पक्षों को मुला बैठे ।

सुकरात ने प्रेम का विवेचन करते हुए मध्यमार्ग की मनोरम उत्थानिका बाँधी है, जो ग्रीक सफलता की आधारशिला थी और जिसकी ओर श्रीकृष्ण ने अपनी गीता में और भगवान् बुद्ध ने अपने व्यावहारिक उपदेशों में मार्मिक संकेत किए हैं । सौन्दर्य का मर्म रचना की इसी मध्यमार्गी समझसता में है और यथार्थ सत्य पराकोटियों के मध्य विराजने वाले इसी माध्यमिक समता बिन्दु पर टिका हुआ है । जीवन की सुस्थता एवं आर्जव इसी में हैं और सुस्थता एवं ऋजुता ही सौन्दर्य के अपने प्राण हैं ।

ऋग्वेद के नवम म. के १.९५ सूक्त का दूसरा मन्त्र काव्य के रीति मार्ग पर सुन्दर प्रकाश डालता है :—

हरिः सृजानः पथ्यामृतस्येयति वाचमरितेव नावन् ।

देवो देवानां गुह्यानि नामाविष्कृणोति वर्हिपि प्रवाचे ॥

मन्त्र मर्मस्पर्शी है । इसमें रीतिमार्ग के सभी घटकों की ओर संकेत आ जाता है । रचना करने वाला कवि-प्रजापति ऋत के मार्ग पर अग्रसर होने वाली स्वर-लहरों का सृजन करता है, ठीक उसी ध्यान एवं कौशल से, जिसके साथ कि एक नाविक नाव चलाया करता है । अपनी रचना के माध्यम से वह परम रहस्य के मर्म को छू लेता और रमसा उसे जगती के सम्मुख अनावृत कर देता है । कितनी मार्मिक एवं मनोरम व्याख्या है यह कवि-रचना के मर्म की और कितने रोचक ढंग से यह कविता के रीति-मार्ग का निदर्शन करती है ! क्योंकि संवादी रचना सचमुच है ही वह, जो ऋत के मार्ग पर चलती हुई विश्व के स्थायी संविधान का व्याख्यान करती हो और उसके द्वारा दैवी रहस्य का रागात्मक मुखरण करती हो—क्योंकि सचमुच ऋत के विश्वव्यापी सितार पर निनादित होकर ही रचना के अक्षर-अक्षर तत्त्व को व्याकृत करने में सफल हो पाते हैं । वेद ने स्पष्ट शब्दों में कहा है :—

ऋतस्य तन्तुर्विततः पवित्र आ जिहाया अग्रे वरुणस्य मायया ।

धीराश्रित् समिनक्षन्त आशतात्रा कर्तमवपदात्यप्रमुः ॥ ऋ. वे. ९. ७३. १

अर्थात् ऋत का दैवी तन्तु वरुण की गुप्त शक्ति द्वारा जिहा के अग्रभाग की चलनी पर टिका हुआ है । मेधावी कवि उस तक पहुँच कर उसे आत्मसात् कर लेते हैं; इसके विपरीत वे अल्पज्ञ जो इसे प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं, आजीवन नीचे ही पड़े रह जाते हैं ।

रहस्य से उद्भाषित हुए कवि रचना वा कितना मार्मिक निदर्शन है ? विश्वव्यापी परमात्मा के प्रसाद में ही कवि की प्रतिभा जागती है और इसी के वर से उसकी वाणी ऋत के दुर्लभ तन्तु का विश्लेषण करने में समर्थ हो पाती है। मेधावी लोग प्रयत्न करके रहस्य के परम मूल को देख लते हैं और उसी की वेदना में वे अपनी वाणी का पर्यवमान किया करते हैं।

हा, तो वेद के अनुसार स्पष्ट है कि ऋत के मार्ग पर चम्पने वाली कवि रचना ही ऋतरूप सत्य के याग्यान में समर्थ हो पाती है—और कविरचना की यही सरणि वेद की वांछनीय रही है। किंतु काव्यशास्त्रियों ने अनिश्चय के फेर में पह कर वाणी की गति को ही रचना का सर्वत्र मानना आरम्भ कर दिया। और इसके विश्लेषण में एक-एक वे रचना के आत्मरस तक भूल बैठे। किंतु वेद स्पष्ट कहता है —

पुनानो धाचं जनयन्त सिध्यदत् । ऋ वे ९ । ०६ । १२

अर्थात् विश्व का प्रेरक वह परम मोम तत्त्व वाणी को अलंकृत करता हुआ रस रूप में बहा करता है। मत्र के इस एक खण्ड में कविता के 'अलंकरण' एवं 'रस' ये दोनों घटक आ जाते हैं। और जब इस इस मत्र-खण्ड को उपरिनिर्दिष्ट मंत्रों के साथ मिला कर पढ़ते हैं तब हमें काव्य के ध्वनि और राशि ये दोनों पक्ष भी हस्तगत हो जाते हैं। किंतु वेद ने सब जगह 'ऋतसारी' वाणी ही की सपर्या की है। यहाँ तक कि उमन वाणी का नाम ही सूनृता (= सु+ऋता) और ऋतमरा आदि रस दिया है। इस ऋत के अन्तर्वरण में ही वैदिक ऋषि सचेष्ट रहते आए हैं। ऋग्वेद कहता है —

म सूर्यस्य रदिमभि परि व्यन ततु तन्वानस्त्रिकृत यथा विदे ।

नव नृत्स्य प्रशियो नवीयसी पतिजनीनामुप याति निष्टनन् ॥ ऋ.वे ९ ८६ ३२

पारवेधी कलाकार तत्त्वज्ञान के लिए सत्ता के परम तनु का आधिभौतिक, आधिदैविक, एवं आध्यात्मिक इन तीन रूपों में विश्लेषण करता हुआ प्रतिभा-सूय की विरणों से मिलमिला उठता है और तब ऋत की नव-नव प्रशस्तियों में फूँता हुआ वामाओं का वननीय वह परम तत्त्व को पा लेता है।

स्पष्ट शब्दों में यह मत्र कवि के पारवेधी नृतीय नेत्र की ओर सकेत करना हुआ उसके सूर्यसम भात्रमान रचना निवेश की गरिमा का वर्णन करता है और बताता है कि ऋत के रागात्मक व्याख्यान में ही कलाकार के रागात्मक जीवन की सफलता सम्बन्धित है।

निश्चय ही इन मंत्रों के अनुसार कवि-रचना का असल लक्ष्य ऋतरूप परम तत्त्व की रागात्मक व्याख्या करना है और उसी के चम्पन-सुख में इन मंत्रों ने सच्चा कविता का पर्यवमान माना है। जीवन के किसी एक पक्ष को लेकर उसी में रम जाने

वाले कलाकार को ऋत का दर्शन अलभ्य है—क्योंकि ऐसे कलाकार में विस्तार एवं संयम का विकास नहीं हो पाता और हमारे मंत्रद्रष्टाओं ने इन दोनों के उचित विकास को परिपूर्ण जीवन स्वीकार किया है। क्योंकि जीवन में यदि विस्तार का होना आवश्यक है तो उसी मात्रा में उसमें संकोच का होना भी वांछनीय है। मनोवृत्ति के इसी संयम को हम 'समाधि' कहते हैं। इसमें वैखरी चित्तवृत्ति का सम्यक् सन्निधान हो जाता है और इस समाहित चित्तवृत्ति के द्वारा ऋत का प्रत्यक्ष दर्शन संभव हो जाता है; क्योंकि मनोवृत्ति की इस समाधि में जीवन के समग्र पहलू सामंजस्य के साथ एक दूसरे से संव्रलित होकर अखण्ड रस के उस प्ररोचन एवं प्रस्पन्दन को जन्म देते हैं जिनका उत्पन्न करना काव्यकला का परम लक्ष्य है। जीवन एवं कला का यह समंजस विकास ही ऋषियों की दृष्टि में कला का परम लक्ष्य रहता आया है और इसी के उन्नयन में उन्होंने अपनी वाणी को सफल बनाया है।

'उचित' शब्द की व्युत्पत्ति उच् धातु से है, जिसका अर्थ कि 'प्रसन्न होना' एवं 'प्रसन्न करना' है। इसी उच् धातु से ओकस् शब्द बना है जिसका अर्थ घर है; क्योंकि घर सदा सब को समान रूप से प्यारा होता है। अंग्रेजी की Home sweet home इस कहावत का मर्म यही है।

उचित के भाव को 'औचित्य' कहते हैं; और जिस प्रकार 'त्रिवृत्' जीवन की सफलता औचित्य पर निर्भर है उसी प्रकार त्रिवृत् जीवन का रागात्मक व्याख्यान करने वाली कवि-रचना का सौंदर्य भी औचित्य पर निर्भर है। औचित्य के इसी व्यापक मर्म का निदर्शन अथर्ववेद के ३. ३० में इस प्रकार आता है :—

सहृदयं सामनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।

अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाध्या ॥ १ ॥

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।

जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥ २ ॥

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।

सम्यंचः सम्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ ३ ॥

येन देवा न वि यन्ति नो च विद्विषते मिथः ।

तत् कृणो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥ ४ ॥

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्वः सधुराश्वरन्तः ।

अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोमि ॥

समानी प्रपा सह वोऽन्नमागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।

सम्यंचोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥

सध्रीचीनान् व संमनसस्कृणोमि एकश्नुधीत् संवननेन सर्वान् ।

देवा इवामृत रसमाणाः सायंप्रातः भीमनसो वो अस्तु ॥

विद्व के अणु-अणु को क्रियासूत्र में सबलित करके जीवनपथ पर अग्रसर करने वाले औचित्य तत्त्व का अवबोध कराने के लिए वेद ने बार बार स, सह, एव सम् शब्द का प्रयोग किया है और इसके द्वारा इस तथ्य पर बल दिया है कि मानव-जीवन को बननीय एव सवादी बनाने वाला तत्त्व औचित्य ही है।

और यदि जीवन में सबदन उत्पन्न करने का श्रेय औचित्य को है तो निश्चय ही उसका रागात्मक ध्यायान करने वाली कवि-रचना को सफल बनाने का काम भी औचित्य ही का है, तभी तो दण्डी ने कहा है.—

अन्यथर्मस्ततोऽन्यत्र लोकमीमानुरोधिना ।  
मम्यगाधीयते यत्र स समाधिः रमृतो यथा ॥  
तदेतत् काव्यसर्वस्व समाधिर्नाम यो गुणः ।  
कविसार्थः समप्रोऽपि तमेकमुपजीवति ॥

'समाधि' शब्द से यहाँ हम औचित्य ही की ओर दण्डी का सकेन समझते हैं और औचित्याधान की दृष्टि से ही इन पक्तियों की ध्यायना करते हैं। आनन्दवर्धन ने औचित्य को 'रम' की परा उपनिपद् बनाया है:—

अनौचित्याद् ऋते नान्यद् रसमङ्गरथ कारणम् ।  
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रमस्योपनिपत् परा ॥  
एतद् यथोक्तमौचित्यमेव तस्या नियामकम् ।  
सर्वत्र गद्यबन्धेऽपि छन्दोनियमवर्जिते ॥  
रसबन्धोक्तमौचित्य भाति सर्वत्र सध्रिना ।  
रचनाविषयापेक्षं तत्तु किञ्चिद् विभेदवत् ॥

अर्थात् कवि-रचना के आत्मारूप 'रस' के प्रवाह में यदि कोई वस्तु रोडा अटकानी है तो वह है 'अनौचित्य', रस का स्वारसिक प्रवाह तो औचित्य पर ही अवलंबित है। क्या पद्य और क्या गद्य सभी प्रकार की कवि-रचना का प्राण औचित्य है—उसी के उचित सनिवेश में कवि-रचना की सफलता सनिहित है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने रसी औचित्य की अपनी औचित्यविचारचर्चा में रस-जीवित के रूप में स्थापना की है। ग्रन्थ के आरम्भ में वे कहते हैं:—

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चास्त्वने ।  
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽपुना ॥

अर्थात् रचना में चमत्कार उत्पन्न करने वाले, कवितृति के स्वादिष्ट चर्चण में रस के जीवन रूप औचित्य पर अब हम विचार करते हैं। क्षेमेन्द्र के उक्त कथन से व्यक्त है

कि उनके अनुसार काव्य में चमत्कार की उत्पत्ति औचित्य से होती है और कविता के प्रगाढ़ आस्वादन में द्रवित होने वाले रस का प्राण भी औचित्य ही है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि कविता श्रोता एवं प्रेक्षक के आत्मा को तभी द्रवित करती है जब कि उसके अंग-प्रत्यंग औचित्य के द्वारा परस्परसंवादी संपन्न हुए हों और औचित्य के माध्यम से वह सर्वात्मना आत्मा के साथ एकाकार बन गई हो। कह सकते हैं कि औचित्य ही काव्य के विभिन्न तन्तुओं का संवलक है और उसी से उनमें सौंदर्योद्बोधन की क्षमता आती है। जीवन में रसान्नाव औचित्य ही से होता है और उसी से चमत्कृत हुई वाणी श्रोता एवं प्रेक्षक को ब्रह्मरस का आस्वादन कराने में समर्थ होती है। औचित्य के महत्त्व को आगे चल कर क्षेमेन्द्र इन शब्दों में व्यक्त करते हैं:—

काव्यस्यालमलंकारैः किं मिथ्याकथितैर्गुणैः ।  
 यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते ॥  
 अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणाः सदा ।  
 औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ॥  
 उचितस्थानविन्यासादलंकृतिरलंकृतिः ।  
 औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणाः ॥  
 उचितं प्रादुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत् ।  
 उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते ॥

अर्थात् अलंकार तो अलंकार ही हैं और गुण गुण ही हैं। किंतु सच पूछो तो रस में पके काव्य का रहस्य उसके सर्वावयवसारी औचित्य में संनिहित है। क्षेमेन्द्र के अनुसार अलंकार, गुण और रस उत्कृष्ट रचना के लिए सभी आवश्यक हैं, किंतु इन सब में चमत्कार तभी खिलता है जबकि इन सब में व्यष्टि एवं समष्टि दोनों प्रकार से औचित्य विद्यमान हो।

पहले कह चुके हैं कि उचित शब्द की व्युत्पत्ति प्रसादार्थक उच् धातु से हुई है; फलतः उचित शब्द का मौलिक अर्थ मन्द्र, रमणीय, एवं प्रसादकारी है। मन्द्र एवं प्रसादकारी वस्तु ही उचित अर्थात् समंजस, संवादी, ऋजु, एवं शिव होती है। काव्याचार्यों ने 'उचित' शब्द के इस मौलिक अर्थ पर ध्यान न दे उसके एक अर्थ अर्थात् 'समंजसता' में ही उसका पर्यवसान कर दिया है। फल इसका यह हुआ कि औचित्य शब्द अपने मौलिक व्यापक अर्थ से च्युत होकर अपने प्रचलित अर्थ में चल पड़ा और इस कारण समालोचकों ने उस पर संकुचित टीका-टिप्पणी आरम्भ कर दी।

किंतु जब हम 'उचित' शब्द के मौलिक अर्थ 'मन्द्रता' पर ध्यान देते हैं तब अपने मौलिक एवं विकसित दोनों अर्थों को अपने भीतर समाहित करके क्षेमेन्द्र का औचित्य



तत्त्व काव्यमिद्वान्त के सार में चित्र उठता और रचना सौन्दर्य का सर्वांगपूर्ण लक्षण बन जाता है।

यह हुआ यथार्थ औचित्य तत्त्व। यह जिन प्रकार चराचर को चलाने वाले ऋत तत्त्व से अभिन्न है उसी प्रकार ऋतसारी कवि रचना का भी यह जीवित सूत्र है।

## २

आइये अब जरा औचित्य की प्रचलित मीनामा का दिग्दर्शन कर लें। हम सम्बन्ध में हमें द्र की निम्न कारिका उद्धृत की जा चुकी है—

उचित प्राङ्गुराचार्या मद्दश किल यस्य यत्।

उचितस्य च यो भावस्तौचित्य प्रचक्षते ॥ औ० ७

अर्थात् जो वस्तु जिनके अनुरूप है उसे हम उस वस्तु के लिए उचित कहते हैं। उचित का भाव ही औचित्य है। हम जानते हैं कि सब वस्तुओं का समी के साथ सम्बन्ध ठीक नहीं बैठता। किसी वस्तु का किसी वस्तु विशेष के साथ सम्बन्ध ही उचित हुआ करता है। उदाहरण के लिए मोतियों का हार गले में पहना है और नूपुर पैरों में। फलतः मौक्तिक हार गले के और नूपुर पैरों के लिये उचित है। इसी प्रकार काव्य के क्षेत्र में शृंगार रस के साथ माधुर्य गुण एवं वीर और हीर रस के साथ ओज गुण ठीक बैठता है। दो वस्तुओं के हम सम्बन्ध अथवा सामञ्जस्य को हम औचित्य कहते हैं।

पहले कह चुके हैं कि औचित्य की काव्यमिद्वान्त रूप में प्रतिष्ठापित करने का श्रेष्ठ आचार्य क्षेमेन्द्र को है। किन्तु हमका यह आशय नहीं कि क्षेमेन्द्र से पूर्ववर्ती विचारकों का हम ओर ध्यान नहीं गया था। क्षेमेन्द्र से पहले भी भरत और आनन्दवर्धन औचित्य पर विचार कर चुके थे। भरत ने औचित्य की नाट्य में प्रतिष्ठा की थी और आनन्दवर्धन ने उसकी नाट्य एवं काव्य दोनों ही क्षेत्रों में अवतारण की थी। आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य को पूरे काव्यजगत् में उसका उचित आसन पर बिठा कर उसकी एक व्यापक सिद्धान्त के रूप में प्राप्तिप्राप्ति की है।

भरत के अनुसार अभिनय का लक्ष्य प्रशुक के हृदय में रस मंचार करना है। इसी उद्देश्य से नाटक का सारा क्रियाकलाप रसोन्मेष की ओर अभिन्त होता है। अभिनय, छन्द, अलंकार एवं स्वर आदि नाट्य की सभी कदियों का प्रमुख उद्देश्य प्रशुक के हृदय में रस का उन्मेष बसा देना है। भरत ने रस को काव्य का आधार मान कर ही गुण दोष का विवेचन किया है। उनके अनुसार रस के अनुरूप होना ही गुण और

उसके प्रतिकूल होना ही दोष है। गुण रसोद्रेक में सहायक और दोष रस के विघातक होते हैं। पात्रों के वेष की देशकालानुकूलता पर बल देते हुए भरत कहते हैं:—

अदेशजो वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति ।

मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते ॥

अर्थात् यदि पात्रों का वेष देशकाल के विपरीत हुआ तो वे प्रेक्षकों के उपहास के पात्र बन जाएंगे। क्योंकि गले में तगड़ी और हाथ में नूपुर डालना मूर्खता के सिवाय और क्या है ?

ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य आनन्दवर्धन ने औचित्य सिद्धान्त को आगे बढ़ाने में प्रशंसनीय काम किया है। पूर्ववर्ती आचार्यों ने औचित्य का विवेचन काव्य के प्रकीर्ण अंगों के संबंध में किया था; पर आनन्दवर्धन ने काव्य के आत्मभूत रस के साथ भी औचित्य का घनिष्ठ संबंध उद्घोषित करके औचित्य को सिद्धान्त के रूप में काव्य के व्यापक जगत् में अवतीर्ण किया। आनन्दवर्धन रस या रस-ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हैं और रस के परिपाक में सबसे अधिक आवश्यक 'औचित्य' को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार वस्तु एवं अलंकार रस के वाह्य उपकरण हैं—इसलिए रस की अपेक्षा ये दोनों गौण हैं। काव्य में इन दोनों का प्रयोग रसोत्थापन के लिये किया जाता है। इसी मान्यता के साथ आनन्दवर्धन ने वस्तु-औचित्य एवं अलंकारौचित्य को अपने ग्रन्थ में चर्चा की है। काव्य में वस्तु एवं अलंकार का अपना स्वतंत्र मूल्य नहीं होता। अलंकार्य रस के चमत्करण पर ही इनकी सजीवता निर्भर है। आनन्दवर्धन कहते हैं :—

रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम् ।

अलङ्करीनां सर्वासामलंकारत्वसाधनम् ॥ ( ध्वन्यालोक )

वस्तु एवं अलंकारौचित्य के साथ-साथ आनन्दवर्धन ने 'रसौचित्य' की भी मांसा भी बड़े मार्मिक ढंग से की है; और इस बात को स्वीकार किया है कि रसौचित्य के विघात से रसदोष खड़े हो जाते हैं, जो कि सामान्य कोटि के दोष न होकर प्रधान कोटि के दोष गिने जाते हैं। आनन्दवर्धन के अनुसार रस का सबसे अधिक गहरा रहस्य 'औचित्य' है और उसका सबसे बड़ा विघातक है अनौचित्य। इसीलिये उत्तम काव्य के लिये यह आवश्यक है कि उसका अंग-अंग औचित्य के सांचे में गड़ा गया हो। रसौचित्य की प्रधानता पर बल देते हुए भी आनन्दवर्धन ने इस तथ्य को स्पष्ट कर दिया है कि वाच्य एवं वाचक की औचित्यसंवादी योजना सारस्वत कवि का प्रधान लक्षण है:—

वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम् ।

रसादिविषयेतत् मुख्यं कर्म महाकवेः ॥

ऊपर कह चुके हैं कि काव्य जगत् में औचित्य का आक्षर प्राचीन काल से है, किंतु यह बात निर्विवाद है कि औचित्य को काव्य का मुख्यवस्थित व्यापी सिद्धान्त क्षेमेन्द्र ने बनाया है। उनके अनुसार काव्य के अग पद, काव्य, गुण एव रसादि सबके सब औचित्य में सवलित होकर ही सजीव बनते हैं। दूसरे शब्दों में कह सकने हैं कि काव्य के सब अंगों में प्राग फूकने वाला औचित्य ही है। औचित्य की इमी व्यापक मान्यता के कारण क्षेमेन्द्र ने उसका काव्य के २४ अंगों के साथ सबंध दिखाया है।

एक समय था जब कि आलंकारिकों ने औचित्य को निरपेक्ष रूप से काव्य का जीवित माना था पर आचार्य अभिनव गुप्त ने हम मन्तव्य का खण्डन किया है। उनके अनुसार रस एव व्यञ्जना से सवलित हुए विना औचित्य के यथार्थ रूप को पहचानने का प्रयत्न औचित्य की विह्वलना करना है। फलत आचार्य अभिनव एव आनन्दवर्धन ने औचित्यसवलित रस-व्यञ्जि को काव्य का आत्मा माना है। इन तीनों तत्त्वों का परस्पर इतना घनिष्ठ सबंध है कि हम इन्हें एक दूसरे से पृथक् नहीं कर सकते। आचार्य अभिनव का सिद्धान्त है कि काव्य का मूल तत्त्व 'रस' है, फलत 'रस' को उसका उच्च आसन दिये बिना औचित्य की चर्चा अप्रासंगिक है, क्योंकि औचित्य का असली रूप तभी उघड़ता है जब कि जिसके विषय में औचित्य को स्थापित किया जाय वह वस्तु अपनी जगह अपने असली रूप में विद्यमान हो। काव्यजगत् में वह वस्तु काव्य का आत्मा रस है। इसके विना औचित्य की चर्चा विह्वलना मात्र है। जैसा कि कहा है —

औचित्यवनी जीवनमिति चेत औचित्यनिबन्धन रसभावादि मुक्त्वा नाश्व  
विचिदस्तीति ।

आचार्य अभिनव ने साय शब्दों में औचित्य-सवलित रस को काव्य का आत्मा स्वीकार किया है। किंतु आचार्य क्षेमेन्द्र ने उनसे कुछ आगे बढ़ कर औचित्य ही को काव्य का जीवन स्थापित किया है। अपनी औचित्यविचारचर्चा के प्रारम्भ में क्षेमेन्द्र कहते हैं —

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चाश्चर्वण ।  
रसजीवितभूतस्य विचार कुरुतेऽधुना ॥  
अलकारास्त्वलकारा गुणा एव गुणा सदा ।  
औचित्य रससिद्धस्य स्थिर काव्यस्य जीवितम् ॥

अर्थात् औचित्य ही काव्य में मनोशुद्धा उत्पन्न करता और वही रस-वर्षण में रस की असली जान है। अलकार अलकार ही है और गुण गुण ही। किंतु औचित्य तो रस में पके काव्य का स्थायी जीवित है। निष्कर्ष निकलता है कि काव्य की सिद्धि अर्थात् उसका पर्यवसान रस में होता है, और रस की जान औचित्य में है। हम प्रकार रस

और औचित्य दोनों तत्त्व एक दूसरे के परिपोषक हैं। निम्न उद्धरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है :—

रसेन शृङ्गारादिना सिद्धस्य प्रसिद्धस्य काव्यस्य धातुवद् रससिद्धस्येव तज्जीवितं स्थिरमित्यर्थः। औचित्यं स्थिरमविनश्यत्वं जीवितं काव्यस्य, तेन विनास्य गुणालंकारयुक्तस्यापि निर्जीवत्वात् ॥ औ०

क्षेमेन्द्र ने अपनी औचित्य-विचार-चर्चा में काव्य के निम्नलिखित अंगों में औचित्य-विन्यास आवश्यक बताया है :—

पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात, काल, देश, कुल, वृत्त, तत्त्व, सत्त्व, अभिप्राय, स्वभाव, सारसंग्रह, प्रतिभा, अवस्था, विचार, नाम, और आशीर्वाद ।

यहां इन सब अंगों के औचित्य पर विचार करना अनुचित होगा; अलवत्ता प्रधान अंगों के औचित्य पर विहंगम दृष्टि डाल देनी आवश्यक है ।

### गुणौचित्य—

ओज, माधुर्य, प्रसादादि गुण काव्य की शोभा को तभी बढ़ाते हैं जब उनका प्रकृत अर्थ के अनुरूप प्रयोग हुआ हो। इसीलिये आलंकारिकों ने रस-विशेष के लिये गुणविशेष का उन्नयन ही उचित बताया है। उदाहरण के लिये यदि काव्य का वक्ता वीर है तो उसकी उक्ति में ओज गुण फवता है। और यदि काव्य में शृङ्गार रस की अभिव्यंजना अपेक्षित है तो प्रसंग में कवि को माधुर्य गुण का उन्मेष करना उचित है।

### अलङ्कारौचित्य—

जिस प्रकार उचित अंग पर उचित रूप से सजाये गए आभूषण कामिनी को चार चांद लगा देते हैं उसी प्रकार काव्य में उचित स्थान पर उचित रूप से प्रयुक्त हुए अलंकार उसमें जान डाल देते हैं। अलंकारों का उचित प्रयोग तभी संभव है जबकि वे प्रकृत वस्तु के अनुरूप जड़े हुए हों। क्षेमेन्द्र के शब्दों में प्रकृत अर्थ के अनुरूप प्रयुक्त हुए अलंकारों से कवि-रचना उसी प्रकार खिल उठती है जैसे कि कामिनी के पीन स्तन पर लहराते हार से उसकी शोभा शतगुण हो जाती है। क्षेमेन्द्र कहते हैं :—

अथौचित्यवता सूक्तिरलंकारेण शोभते ।

पीनस्तनस्थितेनेव हारेण हरिणेषणा ॥ औ०

सच पूछो तो अलंकार की अलंकारता इसी बात में है कि वह प्रकृत अर्थ का उन्नायक हो। नीरस काव्य पर अलंकारों के पन्ने बेजान सावित होते हैं,—उन्हें देखा रसिकों का

हृदय अकुरित नहीं होता। इसी कारण अन्कारिकों ने अठकारों से चमत्कृत किंतु रसविहीन कविता को अधम कोटि की माना है।

### रसौचित्य—

रसवादियों के अनुसार काव्य की आत्मा रस है। यह सिद्धांत सुक्तियुक्त है। किंतु यह बान मां सुक्तिमगत है कि औचित्य से सबलित होकर ही रस काव्य का आत्मा बनता है और औचित्यसंवादा रचना ही शोभा एवं प्रेशक के हृदय को आवर्जित करती है। क्षेमेन्द्र कहते हैं—

कुर्वन् सर्वाशये व्याप्तिमौचित्यश्चिरौ रस ।  
मधुमाम् श्वाशोकं करोत्यकुरितं मनः ॥  
यथा मयुरनिकाषा रसाः कुशलयोजिता ।  
विचित्रास्वादनां यान्ति शृङ्गाराद्यास्तथा मिथः ॥  
तेषां परस्पराल्लेषात् कुर्वादीचिन्यरक्षणम् ।  
अनौचित्येन संसृष्टः करयेद्यो रमसकरः ॥

अर्थात् जिस प्रकार मधुमास की सहूलन में अशोक अकुरित हो उठता है इसी प्रकार औचित्य से सबलित होकर रस शोभा एवं प्रेशक के हृदय में देवी पीर पैदा कर देता है। जिस प्रकार कुशल सूद के द्वारा सबलित हुए पदरसों का मोजन भोला को विचित्र आनन्द देता है उसी प्रकार परस्पर मशिल्ट हुए त्रिविध रस शोभा एवं प्रेशक की मनकली को चक्का देते हैं। इसलिये रसों के संवार में औचित्य पर ध्यान देना आवश्यक है। रमसकर के औचित्य का उदाहरण देते हुए क्षेमेन्द्र ने व्यास का निम्न श्लोक उद्धृत किया है :—

मत्स्य मनोरमा रामाः सत्यं रम्या विभूतयः ।  
किंतु मघागनाप्रागमद्विलोल हि जीविताम् ॥

उक्त पद्य में शृङ्गार एवं शान्त रस का सकर अचिन मरभ्र हुआ है। शृङ्गार रस के औचित्य पर क्षेमेन्द्र ने कालिदास का निम्न श्लोक उद्धृत किया है :—

वाल्लेन्दुवक्राण्यविकाशमापाद् वभुः पलाशान्यत्रिलोहितानि ।  
सद्यो वसन्तेन समागतानां नखशतानीव वनस्थलीनाम् ॥

इस पद्य के छिराने का आशय यही है कि कालिदास शकर के हृदय में पार्वती के प्रति अभिलाषरूप शृङ्गार उत्पन्न करना चाहते हैं। इस अभिलाष को मानने रखकर ही उन्होंने वसन्त के नखों से धुन होकर लाल हुए वनस्थली का वर्णन किया है। वसन्त का यह संयोग शृङ्गार प्रकृत अर्थ के लिए निर्गत सहायी है। शकर के हृदय में पार्वती

के प्रति शृङ्गारिक अभिलाषा उत्पन्न करने के निमित्त वह उपयुक्त उद्दीपन का कार्य कर रहा है।

यहां तक हमने भारतीय काव्यशास्त्रों में औचित्य की गरिमा दिखाई है। औचित्य की यह महत्ता भारतीय काव्यशास्त्र में ही नहीं, अपितु पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में भी समान रूप से स्वीकार की गई है। प्राचीन काल से ही पाश्चात्य आलोचक औचित्य को काव्य-समीक्षा में महत्त्व देते आए हैं। किंतु इन लोगों ने औचित्य को काव्य के बहिरंग तक ही सीमित रखा है। जहां एक ओर हमारे यहां औचित्य को काव्य का अन्तस्तत्त्व माना गया है वहां पाश्चात्य समीक्षा-पद्धति में इसे बाह्य सौन्दर्य का उपकरण बताया गया है।

पाश्चात्य समीक्षा-पद्धति के प्रवर्तक अरस्तू ने अपने पौयटिक्स एवं रेटोरिक्स नामक ग्रन्थों में औचित्य को मार्मिक सीमांसा की है। काव्य में भाषा के औचित्य पर विचार करते हुए अरस्तू कहते हैं कि रचना में भाषा का प्रयोग विषयानुसार होना चाहिए। सुकुमार विषय का वर्णन कठोर भाषा में एवं उग्र विषय का वर्णन सुकुमार शब्दों में किया जाय तो रचना का प्रभाव विगड़ जायगा। अपनी रेटोरिक्स में अरस्तू कहते हैं :—

It is a general result of these considerations that if a tender subject is expressed in harsh language or a harsh subject in tender language, there is a certain loss of persuasiveness.

अरस्तू के बाद अन्य आलोचकों ने भी औचित्य पर पर्याप्त विचार किया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध का उपसंहार इन शब्दों में कर सकते हैं। भारत में वाणी की पूजा वैदिक काल से चली आ रही है और भारत के विचारकों ने वाणी के परिष्कार को अपने जीवन का प्रमुख लक्ष्य बनाया है। वेदों ने अलंकृत भाषा का प्रयोग करके भावी विचारकों को अलंकार शास्त्र का मार्ग दिखाया है, जिन्होंने परिष्कार के एक एक पक्ष को लेकर अपने अपने पृथक् सिद्धान्त स्थापित किए और उन्हें आगे बढ़ाया। प्रचलित काव्यशास्त्र के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि कवि-रचना का प्रमुख लक्ष्य श्रोता एवं प्रेक्षक के हृदय में चमत्कृत रस का स्रोत बढ़ाना है, एक अनोखी, दिल से रिसने वाली 'पीर' पैदा करनी है, जिसके आवेश में भौतिक जगत् तरल बनकर एक नवबेले छाया-जगत् में बदल जाता और उसके कण-कण से ऐसा रस रिसने लग जाता है जो श्रोता एवं प्रेक्षक की 'पीर' के साथ तदात्म होने के कारण उसे 'शून्य के उस पुलिन पर पहुंचा देता है जहाँ सत् और असत् दोनों एक हो जाते हैं, जहां जीवन और मृत्यु समान रूप से आनन्ददायक बन जाते हैं। हमारे आचार्यों ने चमत्कार-संबलित शब्द और अर्थ के समवाय को साहित्य माना है और काव्यगत चमत्कार को विभिन्न आलंकारिकों ने विभिन्न नामों से पुकारा है। आनन्दवर्धन इसे ध्वनि कहते हैं जब कि कुन्तक इसे वक्रोक्ति-

अभिनव गुप्त वैचित्र्य और क्षेमेन्द्र इसे औचित्य सत्ता देते हैं। इनमें से प्रत्येक का अपना-अपना निराला स्थान है—किंतु औचित्य शब्द की निष्पत्ति प्रमादार्थक उच् धातु से होने के कारण इसका अर्थ अत्यन्त व्यापक है और इसमें रचना को चमत्कृत करने के वे सभी उपकरण आ जाते हैं, जो श्रोता एव प्रेक्षक के हृदय को अकुरित करत और जीवन के लिए क्षेमकारी होते हैं। क्षेमेन्द्र ने अपनी औचित्यविचाररचना नामक रचना में औचित्य का इसी व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है।

भारत में ऐसे भी मीमांसक हो गुजरे हैं जिन्होंने औचित्य की रसादि से सुतरां स्वतन्त्र सत्ता मानी है और उसे ही काव्य-नत्व का श्रेष्ठ आसन प्रदान किया है। पर आचार्य अभिनवगुप्त ने इस मन्तव्य से अमहमति प्रकट करते हुए औचित्य को एक मबध विशेष बताया है और इसी रूप में उसे काव्य के आत्मभूत रस का परिपोषक स्थापित किया है। किंतु क्षेमेन्द्र ने काव्य, रस और औचित्य के त्रिभुज पर सरस्वती की बंदना की है और उनकी दृष्टि में काव्य की सिद्धि रस में होती है और रस का जीवित औचित्य में है। क्षेमेन्द्र के निम्नलिखित श्लोकों का आशय यही है—

‘औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चाश्चर्वणं ।

रसजीवितभूतस्य विचार कुरुतेऽधुना ॥’

‘औचित्य रससिद्धस्य स्थिर कायस्य जीवितम् ॥’

मूर्यकान्त

\* श्रीनृसिंहाय नमः \*

# नृसिंहचम्पूः

अथ प्रथमोच्छ्वासः

आनन्दं स दधातु धातुरपि यो धाता यदङ्घ्रिस्त्रवद्-  
दिव्याम्भः सुरधुर्यधूर्जटिजटाजूटावतंसायते ।  
भूयो दानवभारभङ्गुरधरोद्धारैकधीरः स्वयं  
लीलावैभवनिर्मितस्य जगतो वैकुण्ठकण्ठीरवः ॥ १ ॥

यस्माद् धदोऽजनि सुदुर्लभरत्नमेतत् प्रहादरूपमपरं च भवेन्तु तत्र ।  
योऽन्वेषयन्निति ददार सुरारिवत्तस्मै नमो नृहरयेऽद्भुतविक्रमाय ॥ १ ॥

अशेषविद्वज्जनसंमतं यत् पवित्रितं सच्चरितैर्मुनीनाम् ।

श्रीकाशिनाथस्य पदारविन्दं श्रीशुद्धबोधस्य च भावयामि ॥

ईशानुरक्तस्य सतां मतस्य श्रीभिक्षुवर्यस्य पितुः स्मरामि ।

आत्मानमानन्दयितुं जनन्याः रमाभिधायाश्चरणौ वहामि ॥

सूर्याभिधो नवरसां कविचक्रवर्ती चम्पू चकार नृहरेश्चरितैः पवित्राम् ।

श्रीसूर्यकान्तविवुधोऽथ नृसिंहभक्तो व्याख्यात्यपेक्षितपदैर्गुणिनां हिताय ॥

आनन्दमिति—यः धातुः ब्रह्मणः अपि धाता विधाता 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्व  
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' इति श्रुतेः; यः ब्रह्मणोऽपि निर्मातेत्यर्थः । यदङ्घ्रिस्त्र-  
वद्दिव्याम्भः यस्य च अङ्घ्रिभ्यां चरणाभ्यां 'पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः ।  
त्रवत् चरत् दिव्यं स्वर्ग्यम् अम्भो जलं गाङ्गं वारीत्यर्थः । सुरधुर्यधूर्जटिजटाजूटा-  
वतंसायते सुराणां देवानां धुर्यस्य नेतुः धूर्जटेः शिवस्य जटाजूटस्य कपर्दस्य 'कप-  
र्दोऽस्य जटाजूट' इत्यमरः । अवतंसायते भूषणमिवाचरति । यो दानवभारभङ्गुरो-  
द्धारैकधीरः यश्च स्वयं लीलावैभवनिर्मितस्य जगतो भूपः स वैकुण्ठकण्ठीरवः आनन्दं  
दधातु इति योजना । यश्च स्वयं दानवभारभङ्गुरोद्धारैकधीरः दानवानां दनुजानां  
भारेण भङ्गुरायाः भक्षनशीलायाः चक्राया वा धरायाः सर्वसहायाः उद्दारे उद्दरणे



एकधीरः एकमात्र धीर. वर्तते इति शेषः । यत्र स्वयं लीलावैभवनिर्मितस्य लीलायाः कीटाया वैभवेन सामर्थ्येन निर्मितस्य सृष्टस्य जगतः भूर्भुवः स्वराज्यस्य लोकत्रयस्य भूपः नृप । स वैकुण्ठकण्ठीरव वैकुण्ठलोकस्य कण्ठीरव इति पण्डितपुर्यः । वैकुण्ठो विष्णुरेव कण्ठीरव सिंहः पालक. इति कर्मधारयो वा । सोऽग्री नृसिंहाण्यो हरिः आनन्दम् पेहलौकिक पारलौकिक च सुखं दधातु विभक्तुं पोषयतु इत्यर्थः ।

भङ्गुर इत्यत्र 'भञ्जभास' इति घुरच् प्रथमः । एकधीर इत्यत्र 'पूर्वकालैक' इति समासः । वैकुण्ठ इति विगता कुण्ठा नातो यस्य स विकुण्ठः, विकुण्ठ एव वैकुण्ठः । प्रज्ञादित्वाद्गुणः । अथवा विकुण्ठम् विविधा कुण्ठा माया विद्यते यस्य स ॥ १ ॥

अनुवाद—विष्णुलोक का वह दिव्य भृगराज ऐहिक एव पारलौकिक आनन्द को बढ़ावे, जिसके चरणों से निकलने वाला लोकोत्तर जलधारा सुरशिरोमणि नटराज के जटाजूट को विभूषित करती है, जो ब्रह्मा का भी निर्माण करने वाला है, जो अपने लीला वैभव से निर्मित सृष्टि का शासन है, [ इतना ही नहीं, बल्कि ] दानवों के भार से पीड़ित वसुधा के उद्धार में जो एक मात्र धीर है ॥ १ ॥

विमर्श—भारतीय परम्परा में भारती के उपासकजन सदाचार को प्रमाण मानने हुए प्रकरण के आरम्भ में सदैव माङ्गलिक श्लोक या श्लोकों का उपन्यास करने आए हैं । उनकी यह धारणा रही है कि किसी भी ग्रन्थ के सन्ध में तीन प्रकार के प्रतिबन्धक हो सकते हैं—सनातिप्रतिबन्धक, प्रचारप्रतिबन्धक एवं यज्ञप्रतिबन्धक । मङ्गल इन तीनों प्रकार के प्रतिबन्धकों का निरामक होता है, अन्त भावों सन्धि भी इस परंपरा का पालन करे—यहां सोचकर हमारे पूर्वज मङ्गल को लिखिकर बन देना आवश्यक समझने रहे हैं ।

यह मङ्गल भी तीन प्रकार का होता है—आशीर्वादात्मक, नमस्कारात्मक, एवं वस्तु निर्देशात्मक । प्रस्तुत ग्रन्थ के आरम्भ में कवि ने आशीर्वादात्मक मङ्गल का विन्यास किया है । इसके पहले कि हम उस माङ्गलिक श्लोक का अर्थ करें, चम्पू काव्य का स्वरूप बना देना आवश्यक समझते हैं । साहित्यदर्पणकार महापात्र विद्वनाथ ने चम्पू का अर्थ निम्न है—

'गद्यपद्यमय काव्य चम्पूरित्वभिधीयते'

अर्थात् चम्पू वह काव्य है, जिसमें गद्य एवं पद्य दोनों का मिश्रण हो । यद्यपि गद्य एवं पद्य का मिश्रण 'रूपक' में भी दिखलाई पड़ता है, तथापि दोनों का स्पष्ट अन्तर यह है कि रूपक इतना काव्य है और चम्पू अन्य काव्य । हाँ, यह अन्तर बड़ा जा सकता है कि सम्यक्त काव्य में गद्य एवं पद्य का मिश्रण रहता है और वह भी ग्रन्थ काव्य ही है, फिर उक्त अर्थ को धारि तो नहीं टाकें हुए ? इस प्रश्न का समाधान यह है कि चम्पू 'गद्यपद्यमय' है और काव्य-काव्य उसमें मिला । आमतौर पर वह इतना विचित्र ही

लगेगी । असल में ध्यान देने की वस्तु है—‘भयट्’ प्रत्यय । यहाँ यह ‘प्रानुयार्थक’ है । रहस्य यह हुआ कि चम्पू में गद्य एवं पद्य-दोनों का प्राचुर्य होता है, पर कथा-काव्य में गद्य की ही प्रधानता रहती है, पद्य तो क्वचित् ही होता है । कथा-लक्षण में स्पष्ट ही कहा है—

‘क्वचिदत्र भवेदायां क्वचिद्वक्त्रापवक्त्रके’

इस उद्धरण में ‘क्वचित्’ पद ध्यान देने योग्य है । इससे स्पष्ट सूचित होता है गद्य पद्य का मिश्रण उभयत्र होने पर भी दोनों में भेद है । इस प्रकार चम्पू का निष्कृष्ट लक्षण यह हुआ—

‘चम्पू वह श्रव्य काव्य है, जिसमें गद्य एवं पद्य का प्रचुर मिश्रण हो’

अलंकारः—(१) ‘दधातु धातु २’ में यमक तथा छेक का सांकर्य है ।

(२) ‘दधातु धातुरपि यो धाता’—यहाँ (‘धत्’) अनेक वर्णों की असकृत् आवृत्ति है, अतः वृत्ति अनुप्रास भी हो सकता है ।

(३) ‘जटि जटा जूट्’ में भी अनेक वर्णों (जूट्) की असकृत् आवृत्ति है, अतः वृत्त्यनुप्रास है ।

भाव—यहाँ देवविपयिणी रति, जो कविनिष्ठ है, व्यक्त हो रही है; अतः उसको लेकर भाव-ध्वनि है ।

‘देवादिविषया रतिर्भावः प्रोक्तः’ प्रकाशकार ने कहा ही है ।

‘वैकुण्ठकण्ठीरवः’ में यदि वर्मधारय समास स्वीकार किया जाय, तो यहाँ ‘रूपक’ अलंकार भी हो सकता है ।

छन्दः—शार्दूलविक्रीडित । यह एक वर्णिक वृत्त है जिसमें १९ वर्ण होते हैं । वृत्तरत्नाकरकार ने इसका अधोलिखित लक्षण किया है—

‘सूर्याश्वैर्भसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्’

म स ज स न त सु

SSS, IIS, ISI, IIS, SSI, SSI, S

अपि च—

यत्संकल्पविकल्पकल्पितजगज्जन्मात्ययाधिष्ठित-

प्राधान्यौ विधिशंकरौ किमु परे तत्रामरेन्द्रादयः ।

अन्तःसंततमन्तरायरहितैर्यो योगिभिर्ध्यायते

सान्द्रानन्दसुधोदधिं निरवधिं तं श्रीनृसिंहं भजे ॥ २ ॥

यत्संकल्पेति—यत्र विधिशंकरौ धातृमहेशावपि यत्संकल्पविकल्पकल्पितजगज्जन्मात्ययाधिष्ठितप्राधान्यौ यस्य परब्रह्मणः हरेः नङ्कल्पेन इदमहं करिष्यामि इति

मानसध्यापारेण 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजापेय' 'स पेषत लोकान्नु घृजा' इति 'स लोकानसृजत' इति श्रुतेः । प्रकल्पेन विविधेन कल्पेन प्रकारेण चन्द्रादिसूर्यरूपेण कल्पितयोः निर्मितयोः जगज्जन्मात्यययोः जगतो भुवनत्रयस्य जन्मनि सत्रेनध्यापारे अत्यये संहारकर्मणि च अधिष्ठित प्राप्तप्राधान्य मुख्यत्वं याम्या तौ वर्तते इति शेषः । अथात् जगत उत्पत्तिसंहारकारकौ ब्रह्मशंकरावपि यस्य सर्गलयशक्यानु-गृहीतावेव जगत उत्पत्तिसंहारौ कुरुत । तत्र परे इतरे अमरेन्द्रादयः प्रिदत्तप्रभृतय किमु तद्वशात् इति किमु वाच्यमित्यर्थः । इन्द्रादीनां तु केव कथा इत्यर्थः । यः यश्च अन्तरायरहितं निर्विघ्ने इत्यर्थः, योगिमि चित्तवृत्तिनिरोधपरायणे मुमुक्षुभिः सन्ततं सतत त्यक्तान्यध्यापारैरित्यर्थः । अन्तः स्वामनि ध्यायते चिन्त्यते ध्यानविषयीक्रियते । सान्द्रानन्दसुधोदधिं सान्द्रानन्दसुधायाः निर्भरानन्दा-मृतस्य उदधिं सागरम् आनन्दघनमित्यर्थः । निरवधिं निर्भीमानम् अनन्तं तममुं श्रीनृसिंहाख्य परं ब्रह्म भजे अहं सेवे अनन्यचेता सततं तत्प्रवणो भवामि इति भावः ॥ २ ॥

जिमके सकरर विरल्प मात्र से प्रसूत होनेवाले जागतिक सृष्टि एवं ध्वंस जैसे बायों में मदा तथा शकर को भी प्रमुख भार वहन करना पड़ता है, वहाँ इन्द्र आदि अन्य देवताओं की गगना ही क्या है ? तथा जो निरन्तर एवं निर्विघ्नता-पूर्वक योगियों की चित्त-वृत्ति का विषय बना रहता है, उस असीम एवं घन मदिष्ट आनन्दामृत के नशोदधि भगवान् नृसिंह का मैं स्मरण करता हूँ ।

अलंकार—'सख्य विरल्प कल्पित' में अनेक वर्ण ( ल्पू ) की अमकृत आवृत्ति है, अतः वृत्ति अनुप्रास है । इसी प्रकार अन्तिम चरण में 'घ' वर्ण की भी अनेकशः आवृत्ति है, अतः वहाँ भी वृत्त्यनुप्रास है । छन्द पूर्वोल ही है ।

शेषोऽशेषविशेषगोक्तिनिपुणोऽप्यास्तेतरामस्तधी

यस्योद्यद्गुणवर्णनेऽपि न ययी चागीशवागीशताम् ।

यद् वेदोऽपि न वेद तत्र विषये मर्त्यः प्रवृत्तोऽस्म्यहं

यस्मादर्भक्रमावर्गमितगिरा स्यादेव कौनूहलम् ॥ ३ ॥

शेष इति—यस्य श्रीनृसिंहारयस्य परमहंस उद्यताम् उद्यद्गुणानां जगति आविर्भावतां, किमुत अन्तर्हितानामिति भावः । गुणानां निरतिशयवैभवानां वर्णने कथने अशेषविशेषगोक्तिनिपुणः अशेषाणां सर्वेषां विशेषणानां गुणादीनां विशेष्य-धर्माणां उत्तमै कथने निपुणः कुशलः शेषोऽहिराहपि अरतधीः मन्दप्रज्ञ सन् आस्ते-तरां तूर्णानि तिष्ठति मौनमाचरति । जगद्विदितानामपि श्रीनृसिंहगुणानामनन्त-र्यमिति भावः । तथा चागीशवाग् चागीशस्य गृहस्पतेरपि चाद् गीः ईशवां सामर्थ्यं पाटवं वा न ययौ न प्राप । 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनमा भह'

इति श्रुतेः वाङ्मनसातीतत्वान्तस्येति भावः । किंच वेदोऽपि वेदत्रय्यपि यत् यन्नृ-  
सिंहाख्यं ब्रह्म न वेद न जानाति 'तत्र वेदा अवेदा भवन्ती'ति श्रुतेः । तत्र तद्-  
वर्णने मर्यः मरणधर्मा सन्नप्यहं प्रवृत्तः अस्मि । तद्वर्णनपरः संजातोऽस्मि ।  
यदा शेषादयः शाश्वतिकधर्माणोऽपि तद्वर्णनेऽशक्ताः तदा मादृशां तु कैव कथेति  
मर्योपादानम् । परंतु यस्मात् यतः कारणात् अर्भकभावः अर्भकता बाल्यं गर्भितं  
तिरोहितं यस्यां सा गीः वाणी तथा विदुषां किंचित् कौतूहलं कौतुकं स्यादेव भवे-  
देव । यथा अर्भकाणां स्वलन्ती वाक् सर्वान् कुतूहलयति तद्वत् ममापि इदं काव्यं  
विदुषां कौतुकमातनिष्यति इति धियाऽत्र प्रवृत्तोऽस्म्यहमिति भावः ॥ ३ ॥

अन्तर्निहित गुणों की बात छोड़ें, जिसके व्यक्त एव श्रुतिगोचर गुणों के वर्णनार्थ निखिल  
विशेषणोंकी उक्ति में कुशल ( सहस्रमुख ) शेषनाग भी मन्दप्रद्य हो मौन साध लेते हैं;  
यहाँ तक कि स्वयं वाचस्पति की वाणी भी निःस्पन्द हो जानी है, जिसको अन्ततः  
वेद भी नहीं जानता, उस परब्रह्म के वर्णन में मरणधर्मा में जो प्रवृत्त हुआ हूँ, वह  
केवल इसलिए कि बालचापत्य से भरी हुई बुद्धि के उद्गारों को सुनकर लोगों को  
कुतूहल हो ॥ २ ॥

प्रथम चरण में वृत्त्यनुप्रास के साथ 'असाध्य कर्म के प्रवर्तक हेतुरूप' में उपन्यस्त  
चतुर्थ चरणके अर्थ को लेकर 'कान्यलिङ्ग' नामक अलंकार भी है । छन्द वही है ॥

विष्णोश्चिरं चरणपङ्कजचञ्चरीकः

श्रीज्ञानराजतनुजो दनुजान्तकस्य ।

सूर्यः करोति गुणगौरवकीर्तनेन

स्वीयां सुधारसवता रसनां सनाथाम् ॥ ४ ॥

विष्णोः इति—दनुजान्तकस्य दानवसंहारकर्तुः विष्णोः नृसिंहस्य चिरं चिर-  
कालपर्यन्तमावाल्यादित्यर्थः । चरणपङ्कजचञ्चरीकः पादपद्मभ्रमरः तत्समाराधन-  
पर इति यावत् । श्रीज्ञानराजतनुजः श्रीज्ञानराजरस्य तन्नामधेयस्य पितुः तनुजः  
आत्मजः सूर्यः तन्नामाहं कविः सुधारसवता अमृतमयेन गुणगौरवकीर्तनेन गुणानां  
गौरवस्य महिम्नः कीर्तनेन स्तुत्या स्वीयामात्मीयां रसनां जिह्वां सनाथां कृतार्थां  
करोति चित्तनुते । 'चञ्चरीकोऽथ भ्रमरे' इति कोपः ॥ ४ ॥

दानवोंके संहारक विष्णु के चरण-कमल का चिरकाल से भ्रमर की भाँति लोभी  
ज्ञानराज का पुत्र सूर्य नामक कवि अपनी चागिन्द्रिय को अमृत रस से सराबोर गुण एवं  
गौरव के कीर्तन द्वारा कृतार्थ करने जा रहा है ॥

छंद—सन्त तिलका है । प्रथम चरण में रूपक नाम का अलंकार है ॥ ४ ॥

कुतो रसनिरूपणं त्रिघटिकावतारः कुतस्

ततो मम मतिः क्व च क्व चरितं जगत्स्वामिनः ।

कुतः प्रथिततार्णयो लवणनिर्मिता नौः कुतस्

तथापि मम चापलं कविजनाः क्षमध्वं क्षणम् ॥ ५ ॥

कुत इति—रमनिरूपणं शृङ्गारादीनां नवविधानां रसानां निरूपणं प्रतिपादनं कुतः क, त्रिघटिकावतारः श्रीविष्णोः । नृसिंहरूपेण त्रिघटिकामितं कालं यावत् अवतारः अवतरणं कुतः क । नोभयं सहस्रच्छते इत्यर्थः । प्रह्लादरचाकृते विष्णुना केवलघटिकात्रयमितकालमवतीर्य पुनरन्तर्हितमिति पौराणिकी कथा स्वल्पकालिकं चरिते सर्वरसानां सत्त्वेऽतिदुर्लभ्यत्वेन न सर्वरसानां स्फुटतरानुभावकं चरितं जगदीश्वरस्यापि इति तच्चरितवर्णने सर्वरसप्रतिपादनमपि न स्यात् । ततः ततोऽपि बुधंमुच्यते इति शेषः । मम मतिः अत्यल्पविषया मम बुद्धिः क कुत्रः जगत्स्वामिनः त्रिलोकीपतेः विष्णोः चरितं च क । एतदप्युभयं नैव सहस्रच्छते । प्रथिततः सुविस्तृतः अर्णवः सागरः क तं तरीतुं लवणनिर्मिता लवणेन सैन्धवेन निर्मिता रचिता नौः तरणिः च क । यथा सागरं तरीतुं लवणनिर्मिता नौः न कार्यवाहिका तद्वत् अत्यल्पमते । ममापि जगत्स्वामिनः चरितं वर्णयितुं न सामर्थ्यमित्यर्थः । तथापि कविजनाः विद्वांसः ममेदं चापलं तद्वर्णनात्मकमित्यर्थः क्षणं क्षमध्वं सहस्रध्वम् । अभङ्कस्य स्पलन्ती घागिव न तेषां उद्वेगजनकं भवेद्विदं मे तद्वर्णनात्मकं चापमिति भावः ॥ ५ ॥

भला, वहाँ नव रसा की चर्चा और वहाँ तीन घटिका-मात्र काल तक का नृसिंहावतार ? इनकी क्या सहति है ? इसमें भी असह्यत बात सुनिये, वहाँ मेरी अत्यल्प बुद्धि और वहाँ जगत् के स्वामी का अगाध चरित ? अपनी अल्पबुद्धि से इनके चरित्र का वर्णन तो वैसा ही दुष्कर है जैसे विशाल समुद्र का सतराज करने के लिए नमक की बनी नौका का अवलम्ब । फिर भी उस दुःसाध्य कार्य को करने के लिए मैं जो उद्यत दिगार पड़ता हूँ, उस चापल्य को कविजन कुछ समय के लिए क्षमा करें ।

इस श्लोक में 'विषम' नामक अलंकार है ॥ ५ ॥

शृण्वन्तु मत्कृतिमिति प्रथितान् कवीन्द्रान्

न प्रार्थयेहमिह कोऽपि गुणो यदि स्यात् ।

ते चापलोक्तिरसिका यदि वा भवेयुः

स्यादादरस्तदतिचारयियाममीषाम् ॥ ६ ॥

शृण्वन्तु इति—अहं सूर्यकिरित्यर्थः । प्रथितान् जगद्भिख्यातान् कवीन्द्रान् कविमूर्धन्यान् मत्कृतिं ममेमां रचनां शृण्वन्तु आद्रियन्तामिति न प्रार्थये नाम्यर्थ-पितुमुत्सहं । यस्मान्, यदि इह अस्मिन् मम कान्ये कोऽपि गुणः स्यात् कश्चित् क्षमकारो भवेत् । यदि वा मम कान्यस्य गुणशून्यत्वेऽपि ते कवीन्द्राः चापलोक्तिरसिकाः बालघापलेन प्रयुक्ते वाक्ये स्पृहावन्त इत्यर्थः । भवेयुः स्युः तर्हि विनैव

सम निवेदनम् अतिचारुधियां सुमेधसाम् अमीषाम् एतेषाम् कवीन्द्राणाम् आदरः स्यात् । स्वभावत एव तत्र तेषां प्रवृत्तिरुदियात् न तत्कृते कश्चित्प्रार्थनावसर इति भावः । 'यद्यस्ति वस्तु किमपीह तथानवद्यं द्योतेत तत् स्वयमुदेप्यति चानु- रागः' इति भावः ॥ ६ ॥

'प्रख्यात कवीन्द्र जन मेरी इस रचना को सुनें'—ऐसी प्रार्थना करने का साहस नहीं हो रहा है । मैंने अपने मन में यह समझ रखा है कि मेरे काव्य के संबन्ध में दो बातें हो सकती हैं: एक तो वह कि कदाचित् उसमें कोई गुण हो और दूसरी यह कि वह निर्गुण हो । यदि मेरी कविता में कोई गुण होगा, तब इन सुन्दर बुद्धि वाले कवीन्द्रों को उसमें स्वयं आदर होगा ही और यदि कदाचित् वह गुण-शून्य हुई और कविजन भी संयोग से शिशु-सुलभ-चापल्य-मरी उक्तियों के श्रवणरसिक हुए, तब क्या पूछना ? स्वभावतः श्रवण में प्रवृत्ति होगी ही । सारांश यह कि दोनों पक्षों में प्रार्थना का अवसर नहीं है । यहाँ काव्यलिङ्ग का सुन्दर निर्वाह है ॥

छन्द—वसन्त तिलका । इसमें १४ वर्ण होते हैं । गण ये हैं—त म ज ज एवं २ गुरु वर्ण ॥ ६ ॥

तत्र श्रीमन्मार्तण्डमण्डलाखण्डप्रचण्डकरनिकरविस्फाररुचिरप्रचुर- तरप्रकाशस्य सुरराजराजितमुकुटमणिविराजितपदनीरजस्य भगवतः सामराजस्य सुधामाधुरीधुरीणगुणगणवर्णनाकर्णनपूर्णकर्णान् प्रभूतनिर- तिशयतोषाभिलाषेण साधवः स्वत एवानुरक्ता भवेयुर्यथा स्वभाष एवा- मोदस्य यन्मधुकरानाकर्षति ।

तत्रेति—श्रीमन्तः कान्तिमतः मार्तण्डमण्डलस्य सूर्यमण्डलस्य ये अखण्डा अवि- कलाः प्रचण्डाः तिग्माश्च करनिकराः किरणसमूहाः तेषां विस्फारवत् सर्वत्रप्रसारवत् रुचिरः सुन्दरः प्रचुरतरः प्रभूततरश्च प्रकाशो यस्य तस्य सुरराजस्य देवेन्द्रस्य राजि- ता विद्योतमाना ये मुकुटमणयः किरीटरत्नानि तैः विराजिते सुशोभिते पदनीरजे चरणकमले यस्य तस्य देवेन्द्रेणापि पूजितस्येत्यर्थः । भगवतः सकलैश्वर्यसम्पन्नस्य 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्ययोश्चैव पण्णां भग इतीरणा' इति विष्णुपुराणोक्तमगार्थयुक्तस्य वा सामराजस्य साम्नां राजा सामराजः तस्य, सामश्रेष्ठरूपः । विष्णोः सामरूपत्वात् । 'त्रिसामा सामगः साम' इति विष्णोर्नाम सहस्रे । 'यद्वा सामगर्भस्य' इति पाठः स्यात् । साम गर्भे यस्य स तथा । साम गर्भेति विष्णुनाम शब्दस्तोममहानिधौ । एवंभूतस्य ऋसिहास्यस्य सुधामाधुरी- धुरीणाः सुधामाधुर्यधूर्वहाः । सुधामाधुर्यवन्त इति यावत् । ये गुणगणाः गुणनिकशाः तेषामाकर्णनेन श्रवणेन पूर्णाभ्यां कर्णाभ्यां श्रोत्राभ्यां प्रभूतः जातः यः निरतिशय- तोषः निरतिशयानन्दः तस्य अभिलाषेण इच्छया साधवः सन्तः स्वतः स्वयमेव अनु-

रक्षाः आकृष्टा भवेयुः । यथा धामोदस्य सुरभेः अयं स्वभावः यत् स मधुकरान् भ्रमरान् आकर्षति आवर्जयति ।

इसमें भी अनुग्राम का चमत्कार दृश्यनीय है ।

अथवा जितना रुचिर एवं अत्यधिक प्रकाश चमकने हुए सूर्यमण्डलकी अस्वच्छ एवं तीरी विरणों के प्रसार सा व्यापक है, तिनके पद कमल दवेन्द्र की भव्य मुकुटमणि से मयूरों से निरन्तर शोभित रहा करने हैं, उन भगवान् सामरान के अमृतमय गुण-गण के श्रवण से कर्ण-कुहर के भर जाने पर जो प्रभूत एवं अकथनीय आनन्द मिला करता है उसकी अभिलाषा साधुजनों को [ प्रस्तुत रचना के प्रति ] शीघ्र वैसे ही आकृष्ट कर लेगी जिस प्रकार धामोद [ गन्ध ] स्वभावतः मधुकरकी आकृष्ट कर लेता है ॥ ७ ॥

नटे सामाजिके वापि रसाविर्भाव इष्यते ।

तदत्रान्त्युभयं यस्मान् सर्वान्तर्यामिता हरेः ॥ ७ ॥

नट इति—रसाविर्भाव रसरूप शृङ्गारादेः आविर्भावः प्रादुर्भावः नटे अभिनेतरि सामाजिके तद्द्वयैरिधा इष्यते मन्यते । यस्मात् यतः कारणत् हरेः धीविष्णोः सर्वान्तर्यामिता सर्वान्तरगतत्वमस्ति अतः तदुभयम् अभिनेतृत्वं दृष्टत्वं चेत्यर्थः । अत्र अस्मिन्नेव नृसिंहे वर्तते ॥ ७ ॥

रम का आविर्भाव सामाजिक एवं अभिनेता दोनों ही में दृष्ट है । क्यों कि हरि सर्वान्तर्यामी है, अतः उनमें अभिनेतृत्व एवं सामाजिकत्व दोनों बन सकते हैं ।

ते स्युः कृमादिह भयानकरोद्वीराः

वीभत्सकाद्भुतमहास्यकृपाभिधानाः ।

शृङ्गाररसान्तसहिताः क्रम एष विद्धिः

नाङ्गीक्रियेत यदि तर्हि कथाविरामः ॥ ८ ॥

ते इति—ते प्रसिद्धाः शृङ्गारादयो रमा इह अग्निन् मत्प्रणीते काव्ये क्रमात् परिपाटीतः पर्यायात् वा स्युः एवं भवेयुः । भयानकरोद्वीरेत्यादि—पूर्वं भयानकरसनिरूपणमत्र करिष्यते, तदनु रौद्रः, वीरः, वीभत्सकः, अद्भुतः, महास्यः हास्येन सहितः हास्यरस इत्यर्थः । कृपाभिधानः करुणरस इत्यर्थः । पश्चात् शृङ्गाररसनिरूपणम् । तदनु च अन्ते शान्तरसः प्रतनिष्यतेऽत्र । यदि विद्धिः तज्ज्ञैः एष क्रमः एष पर्यायः नाङ्गीकरिष्यते मोदरीकरिष्यते तर्हि कथाविरामः कथाविश्राम एव भवेदित्यर्थः ॥ ८ ॥

वे प्रसिद्ध शृङ्गार आदि रम हमारे काव्य में हम क्रम से रहेंगे मरमे पहले भयानकरस का निरूपण यहाँ किया जायगा । उसके अनन्तर रौद्र, वीर, वीभत्सक, अद्भुत, हास्य एवं करुण का । सबसे अन्त में शृङ्गार वी चर्चा की जायगी और इसके भी अनन्तर में शान्त की । यदि विद्वान् जन हम क्रम में महान्त न हों तो कथा ही नहीं चल सपनी ॥

अलङ्कार—अणुप्राप्त । यहाँ भी वसन्त तिलका छन्द ही है ॥ ८ ॥

गर्भाविविर्भावभाजः कतिकति दनुजद्वेषिणोनावतीर्णाः  
पूर्णास्तिर्यङ्नराणामपि जगति तथा तेन नासीन्नुत्सिंहः ।

यस्यात्मानैति गर्भं सकृदपि मनुजास्तस्य किं गर्भवासः

किं तातस्तस्य यस्य स्वयमयमुदरे हेमगर्भोऽर्भकोऽभूत् ॥ ६ ॥

गर्भं इति—जगति अस्मिन् लोके संसारादारभ्य तिर्यङ्नराणां—तिरश्चां नराणां । मध्ये अवतीर्णाः अंशत इति शेषः, पूर्णाः परिपूर्णा अपि रामकृष्णादयः दनुज-  
पिणः असुरविध्वंसकाः कति कति केचन एव गर्भाविविर्भावभाजः न गर्भात् योपि-  
दरात् आविर्भावं प्रादुर्भावं भजन्ते जुपन्ते इत्यर्थः । केचन एव गर्भाविविर्भावभाज  
इति न अपि तु सर्वे एव इत्यर्थः । यतोऽयं नृसिंहः नरसिंहोभयात्मकः तिर्यङ्ग-  
रोभयात्मक इति यावत् । तेन उभयात्मकत्वेन हेतुना अयं तथा गर्भाविविर्भावभाक्  
न आसीत् इत्यर्थः । नहि तिर्यग् योपिद्गर्भो नारीगर्भो वा उभयात्मको भवतीति  
भावः । तेनायं भगवत् इच्छाविग्रह इति भावः । वस्तुतस्तु भगवतोऽन्येऽपि अव-  
ताराः गर्भाविविर्भावभावत्वेन प्रतीयमानत्वेऽपि परमार्थतो न तथेत्याह—यस्यात्मे-  
त्यादिना । मनुजाः हे नराः तस्य ईदृशस्य सर्वान्तर्यामिणो हरेः किं गर्भवासः  
नेत्यर्थः । किं तातः तस्य—किं तस्य परमात्मनः तातो भवितुमर्हति यस्योदरे स्वयम्  
आत्मना अयं प्रसिद्धः वेदवक्ता हेमगर्भः हिरण्यगर्भो ब्रह्मा अर्भकः अभूत् पुत्रत्वेन  
उदभूदित्यर्थः । संसारादारभ्य अद्यपर्यन्तं यथाकालं यथादेशं च अनेके भगवद्-  
वताराः धर्मस्थापनार्थमिहावतेरुः 'धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे' इति  
गीता । परमिदं सर्वं परब्रह्मणस्तस्य मायाविजृम्भितमेव । वस्तुगत्या तु यः परेशः  
सर्वदा सर्वत्र अतति गच्छति व्याप्नोति तस्यैकदेशप्राप्तिः गर्भाविविर्भावादि च न  
सम्भवति । यस्योदरात् हिरण्यगर्भाविविर्भावः तस्यैव जनककल्पनमयुक्ततरमिति  
भावः ॥ ९ ॥

संसार में अमुरों का विनाश करनेवाले तिर्यक् एवं मनुष्य योनि के बीच मत्स्य,  
राम आदि ऐसे कितने अवतार हुए, पर क्या सब के सब गर्भ से ही आविर्भूत नहीं हुए ?  
हाँ, नृसिंहावतार अयोनिज ही रहा [ और अवतारों से उसका वह विशेषता है ] । इस  
अवतार का अयोनिज होना तर्कसम्मत भी है । तर्क यह है कि वह अवतार नर एवं सिंह  
का मिश्रित रूप है, अतः इतकी उत्पत्ति के लिए भी मिश्रित योनि या गर्भ ही अपेक्षित  
था और वह था नहीं । और वस्तुतः विचार किया जाय तब तो अन्य अवतार भी  
व्यापततः ही गर्भसंभूत जान पड़ेंगे, परमार्थतः नहीं । कारण यह है कि वे सर्वव्यापक  
हैं । ऐसे परमत्त्व का गर्भ से आविर्भाव मानना उसे एकदेशी बनाना है ।

हे मनुजगण ! जिसकी आत्मा एक बार भी गर्भ में नहीं आई उसका गर्भवास कैसा ?



और शर्मा प्रकार उसके जनक की क्या कथा ? जिसके उदर में स्वयं जगत् का जनक  
ब्रह्मा भी शिशु की भाँति पड़ा है ।

अलङ्कार—व्यतिरेक । छन्द—सम्भरा है । इसमें २१ वर्ण होते हैं । इसमें म र म न  
य य य गण होते हैं ॥ ९ ॥

गीर्वाणेन्द्रगिरेर्गुरोरपि गुरुर्धन्यो नृसिंहाचलो  
यो विरंभरमुद्विभर्ति गहनस्तम्भोऽयमम्भोनिधिः ।  
वासो यत्र जगन्निवासविहितः प्रह्लादमेकं जने  
मन्ये मान्यतमं तमम्बरसदां योऽन्तर्दधाराच्युतम् ॥ १० ॥

गीर्वाणिति—स नृसिंहाचलः नृसिंहस्य अचलः पर्वतः ( यस्मात् स्तम्भात्  
नृसिंहरूपेण श्रीविष्णुरवततार स अचल इव वर्तते इति रूपकम् ) धन्यो वर्तते ।  
य. गुरोः महत्तः गीर्वाणेन्द्रगिरे. देवेन्द्रपर्वतादपि गुरुः महान् वर्तते । धन्यत्वे महत्त्वे  
च हेतुमाह यो विश्वम्भरमित्यादिना । य. नृसिंहाचलः विश्वम्भरं जगद्भारकं श्रीविष्णुं  
उद्विभर्ति धारयति ।

अयं भावः—गीर्वाणेन्द्रगिरिः गीर्वाणेन्द्रेणाधीयतेऽयं तु तत्पूज्येन नृसिंहेनेति  
ततोऽस्य धन्यत्वं महत्त्वं चेति । अस्य स्तम्भस्य अम्भोनिधेरपि गभीरत्वेन दुष्प्रवेश-  
स्वरूपं गहनत्वमाह—चाम इत्यादिना । अयं स्तम्भः अम्भोनिधेः समुद्रादपि गहनः  
गभीरो वर्तते । यत्र यस्मिन् स्तम्भे जगन्निवासविहितः श्रीविष्णुकृतः निवासोऽ-  
स्ति । अत्रोभयत्र स एव स्तम्भः नृसिंहाचलशब्देन गहनस्तम्भशब्देन च व्यपदि-  
श्यते व्यपदिश्यते यस्माद् विष्णुराविरासीत् ।

अयं भावः—चातुर्मासिकं निद्रामवेक्षमाणेन भगवता अम्भोनिधिरूपं निर्मलिक  
स्यान शयनार्थमाश्रीयते इति पुराणादिप्रसिद्धम् । अयन्तु स्तम्भो अम्भोनिधेरपि  
गहनो यतो अम्भोनिधि परित्यज्य स्तम्भारम्भकालात् शयानो भगवान् हिरण्यक-  
शिपुकोलाहलेन प्रह्लादे कस्यया प्रतुष्ट इति ।

जने अत्र मर्त्येषु तमेकं प्रह्लादम् एव अम्बरमदामपि देवानामपि मान्यतममाद-  
णीयतम मन्ये अवेमि । यः प्रह्लादः त तारणम् अच्युतं श्रीविष्णुमन्तु. स्वहृदये दधार  
धारयामास । तस्यैवानन्यभक्तत्वात् । य सर्वदा तमेव हृदये धारयामास स  
प्रह्लादः नूनं देवानामपि मान्यतम एव । स्थावरेषु अचलरूपः पुरतमः स स्तम्भः  
सर्वेषामपि गिरीणां सर्वेषामपि समुद्राणां गहनतमश्च वर्तते । यस्मात् विष्णुरावि-  
र्बभूव, जङ्गमेषु मनुष्यादिषु च स प्रह्लादः देवानामपि मान्यतमः योऽन्तरामनि तं  
श्रीविष्णु दधारति भावः ॥ १० ॥

इति श्रीनृसिंहचम्पूकाव्ये प्रथमोऽध्यायः ।

देवेन्द्र के विशाल पर्वत से भी विशाल वह नृसिंहाचल धन्य है, जो साक्षात् विश्वपालक विष्णु का उद्बहन कर रहा है । यह सागर से भी गहनतम वह स्तम्भ है, जहाँ जगन्निवास ने अपना आवास बनाया । [ इनके साथ साथ ] मैं तो मनुष्यों के बीच प्रह्लाद ही एक ऐसा है, जिसको [ तारतमिक दृष्टि से देखने पर ] देवताओं में भी मान्यतम समझता हूँ ! कारण यह कि उसीने इस अच्युत को जैसा चाहिए उस रूप में अंतःकरण में धारण किया है ॥ १० ॥

नृसिंह चम्पूकाव्य का यह प्रथम उच्छ्वास समाप्त ।



### अथ द्वितीय उच्छ्वासः

आसीद् दैत्यकुले हिरण्यकशिपुः प्रौढप्रतापोद्धुरस्  
तस्याभूद् भगवत्प्रियो गुणनिधिः प्रह्लादनामात्मजः ।  
दैत्येशस्तमपाठयत् स्वनिगमं नाङ्गीचकाराथ तम्  
विष्णोर्नाम विनेतरन्न किमपि प्रायः प्रतिज्ञातवान् ॥ १ ॥

आसीदिति—प्रौढप्रतापोद्धुरः प्रौढेन प्रकृष्टेन प्रतापेन तेजसा 'प्रतापस्तापते-जसोः' इति मेदिनी । उद्धुरः निर्भरः 'उद्धरो निर्भरं दृढे' इति शब्दार्थचिन्तामणिः । अनितेजस्वीत्यर्थः । हिरण्यकशिपुः हिरण्यकशिपुनामा प्रसिद्धो दैत्यविशेषः दैत्यकुले दानवान्ववाये आसीत् चभूव । तस्य भगवत्प्रियः ईश्वरपरायणः गुणनिधिः गुणानां दयादाक्षिण्यादीनां निधिः आकरः प्रह्लादनामा आत्मजः सूनुः 'आत्मजस्तनयः सूनुः' इति अमरः । अभूत् अजायत । अथ अनन्तरं प्राप्ते समये दैत्येशः दानवाधिपः हिरण्यकशिपुः तम् प्रह्लादं स्वनिगमं स्वनिश्चयं, स्वसिद्धान्तमित्यर्थः ॥ अपाठयत् अपीपठत् । किन्तु प्रह्लादः हिरण्यकशिपोः तं सिद्धान्तं नाङ्गीचकार न स्वीचक्रे, नानुमेने इत्यर्थः । स प्रह्लादः प्रायः बाहुल्येन विष्णोर्नाम विना विना भगवन्नामधेयमितरत् अन्यत् किमपि न प्रतिज्ञातवान् प्रतिजग्राहेत्यर्थः ॥ १ ॥

दैत्यवंश में अति तेजस्वी हिरण्यकशिपु नामक एक दैत्य था । उसके एक पुत्र था, जिसका नाम था प्रह्लाद । यह ईश्वरपरायण तथा दयादक्षिण्य आदि गुणों से युक्त था । दैत्येश हिरण्यकशिपु ने उस बालक को अपने ईश्वर-विरोधी सिद्धान्तों की शिक्षा दी, पर बालक ने उन्हें अङ्गीकार नहीं किया । विष्णुनाम के अतिरिक्त उसने और कुछ भी ग्रहण नहीं किया ॥

छंद—शार्दूलविक्रीडित है ॥ १ ॥

तच्छ्रुत्वा कुपितः पितातिपरुषैर्वाङ्मैः सुतं त्रासयन्  
 स्नेहाद्रैरपि तत्प्रलोभनपरैः भूयः समाशवासयन् ।  
 तं दृष्ट्वा दृढनिश्चयं पुनरसौ निर्विण्णचेताः परं  
 भृत्यानात्मजयातनार्थममरारातिदिदेशाचिरम् ॥ २ ॥

नच्छ वनि—पिता प्रह्लादजनको हिरण्यकशिपुः तत् श्रुत्वा प्रह्लादः विष्णुनामै-  
 तस्व किमपि न मनुते इति दैत्येभ्य आकर्ण्य क्रुद्धः सन् कदाचित् अतिपरपैः अति-  
 कष्टोरैः वाक्यैः सुत प्रह्लाद त्रासयन् उद्वेजयन् कदाचिच्च तत्प्रलोभनपरैः तत्प्रतारण-  
 परैः स्नेहाद्रैः प्रेमाद्रैः वाक्यैः भूयो मुहुः समाशवासयन् सान्त्वेन स्वसिद्धान्तं बोध-  
 यन् । समाशवासयते समाशवासनकरणके बोधनेऽत्र लक्षणा । एवं बोधयन्सद्यपि  
 तं प्रह्लादं पुनः दृढनिश्चयं समाशवासनोत्तरकालेऽपि अचलचित्तं स्थिराध्यवसाये वा  
 दृष्ट्वा ज्ञात्वा परमं अनिश्चयेन निर्विण्णचेताः विषहृदेयः अमरारातिः सुरारिः असौ  
 स हिरण्यकशिपु भृत्यान् स्वकर्मकरान् आत्मजयातनार्थं स्वपुत्रपीडार्थं प्रह्लादं  
 क्लेशयितुमिच्छति । दिदेश आज्ञापयामासेत्यर्थः । दिदेश इति 'दिश अतिमज्जने'  
 इति धातोर्लिटि रूपम् । घानूनामनेकार्थत्वात् अनुपसृष्टोऽपि दिशिराज्ञार्थं वर्तते ।  
 'निर्विण्णो विष्णो दुःखिते' इति शब्दार्थचिन्तामणिः ।

इस बात को सुनकर क्रुद्ध पिता हिरण्यकशिपु कभी तो विष्णु एवं क्रु वाक्यों से  
 उसे धमकाया तथा कभी विभिन्न प्रकार के प्रलोभन-पूर्ण एवं स्नेहासिद्ध वचनों का प्रयोगकर  
 साम-नाति से उसे अपना सिद्धान्त समझाना । इन उपायों के बावजूद जब उसने बापक  
 को अपने निश्चय से टिगने न देगा, तब अन्त में श्मे अत्यधिक क्रिद्ध हुआ और फिर  
 इस देव-शत्रु ने अपने शर्मों को मद आशा दी कि वे सब उसके पुत्र को पर्याप्त  
 यातना दें ॥ २ ॥

दैत्यः—

अहो सचिवाः ! साम्प्रतं विपक्षपक्षमाश्रितः पुत्राधभोऽयमुदरोत्पन्नो  
 व्याधिरिव तरुसद्वृक्षसमुत्पन्नो दायाभिरिवास्मन्नाशहेतुः कुलधूमकेतुरिवो-  
 दित आस्ते । तस्मादयमग्नौ बह्यः, सलिले क्लेशनीयः, शस्त्रैर्घातनीयः,  
 शैलतटान् घातनीयस्तथा यथा दुःशीलतामघ्नन् वा जह्यात् । ततो भर्तुर्य-  
 थादेशं यातनात्रिपयं नीतस्य शिशोर्दाहनादिषु नृहरिस्वरूपमभिध्यायतो  
 रोमापि न वक्रमासीन् ।

अहो इति—अहो सचिवा हेहो मन्त्रिणः साम्प्रतम् एतद्दिं पुत्राधमः निवृत्त्युग्रः  
 अयं प्रह्लादः विपक्षपक्षं दायावगमम् आश्रितः अधिष्ठितः अस्तीति शेषः । अतः उदरो-  
 त्पन्नः उदराजगतः व्याधिः पीडये तरुणां वृक्षाणां मघहात् संघर्षगात् उत्पन्नः

उद्भूतः दावाग्निः वनाग्निः इव अस्माकं नाशस्य विनाशस्य हेतुः निदानं कुलधूम-  
केतुः वंशविनाशकः उत्पातविशेषः वह्निर्वा उदितः उत्पन्नः अस्ति । 'धूमकेतुः  
उत्पातविशेषे वह्नौ ग्रहप्रभेदे वा' इति शब्दार्थचिन्तामणिः । व्याधिः स्वनाशहेतुत्वे  
दृष्टान्तः दावाग्निश्च कुलनाशहेतुत्वे । तस्मात् अयमसौ तथा अग्नौ वह्नौ दाह्यः  
दग्धव्यः सलिले वारिणि क्लेदनीयः मज्जनीयः शस्त्रैः हेतिभिः घातनीयः घात-  
यितव्यः शैलतटात् पर्वतसानुतः पातनीयः निपातनीयः यथा येन अयं दुःशीलतां  
स्वीयमिदं दौःशील्यम् असूनू प्राणान् वा जह्यात् त्यजेत् । दाह्यः इत्यत्र 'ऋहलो-  
र्ण्यत्' इति ण्यत् । ततः तदनन्तरं भर्तुः स्वामिनः यथादेशम् आदेशम् आज्ञाम्  
अनतिक्रम्य यातनाविषयं पीडागोचरत्वम् । अत्र विषयशब्दो भावप्रधानो निर्दि-  
श्यते । द्वयेकयोरित्यादिवत् । नीतस्य प्रापितस्य अस्य प्रह्लादस्य शिशोः दहनादिषु  
वह्न्यादिषु सर्वेष्वपि भूतेषु नृहरिस्वरूपं विष्णुरूपं चिन्तयतः ध्यायतः पश्यतो वा  
न रोमापि लोमापि चक्रम् आसीत् न तस्य किञ्चिच्छिन्नमित्यर्थः ॥

हे मन्त्रि-वृद्ध ! इस समय यह अधम पुत्र कुल-परम्परा के विनाशार्थ धूमकेतु की  
तरह उदित हुआ है । इसकी स्थिति वहाँ है जो अपने ही उदर से उत्पन्न व्याधि की  
होती है । जिस प्रकार वृक्षों के संवर्ष से उत्पन्न होने वाली अग्नि वृक्षों का ही सर्वनाश  
कर देती है, उसी प्रकार मुझ से ही उत्पन्न हुआ यह बालक मेरे ही नाश का बीज बन रहा  
है । अतः यह इस प्रकार अग्नि में जला दिया जाय, जल में डुबो दिया जाय, शस्त्रों से  
मारा जाय, तथा शैलतट से गिराया जाय, जिससे या तो यह अपना दुःस्वभाव ही  
परित्याग दे, अथवा प्राणों से हाथ धो बैठे । पश्चात् स्वामी की आज्ञा के अनुसार विभिन्न  
प्रकार की यातनाओं को सहन करते हुए भी उस बालक का, जो दाहन आदि क्रियाओं में  
निरन्तर नृसिंह का ध्यान करता रहा, एक बाल भी बँका न हो सका ॥

कीलालं स्थलतां स्थलं च जलतां वैश्वानरः शीततां

पीयूषत्वमगाद् विषं च विषमं बालस्य तस्यापदि ।

नित्यं संस्मरतां सतां हृदि कृपाकूपारमीशं हरिं

विश्वव्यापिनमूर्जितं च कुशलं कस्मादसम्भाविताम् ॥ ३ ॥

कीलालमिति—तस्य बालस्य प्रह्लादस्येत्यर्थः । आपदि भर्तुनिदेशेन भृत्यादिभिः  
वह्निदाहादिविषयतौ, कीलालं पयः 'कीलालं रुधिरं तोये' इति मेदिनी । स्थलतां  
मरुत्वम् आगात् प्रापत् । स्थलं च मरुश्च जलतां सलिलत्वम् आगात् । एवं वैश्वान-  
नरोऽग्निः शीतता शैल्यं, विषमं त्रिषं गरलं च हालाहलं पीयूषत्वममृतत्वमगात् ।  
'पीयूषं सप्तदिवसावधि क्षीरे तथामृते' इति मेदिनी । हृदि स्वात्मनि कृपाकूपारम्  
कृपायाः दयायाः अकूपारं सागरम् 'उत्पलादावकूपारः कूर्मराजे महोदधौ' इति  
मेदिनी । विश्वव्यापिनञ्च । चो भिन्नक्रमः । ईशम् ईश्वरं तं हरिं त्रिष्णुं नित्यं सततं

संस्मरतां ध्यायतां सतां मज्जनानां कस्मात् कस्य हेतोः ऊर्जितं प्रवृद्धं सर्वोद्दृष्ट-  
मित्यर्थः । कुशलमनामयं वार्ता वा असम्भावितम् न भवितुमर्हदित्यर्थः । तेषां सर्व-  
देव सर्वमेव मङ्गलं भवतीति भावः । सर्वान्तर्यामिण विष्णुं ध्यायतां सततं कुशल-  
स्यैव संभवात् । 'न वासुदेवभक्तानामशुभं विद्यते क्वचिद् । जन्ममृत्युमराव्याधि-  
भयं नैवोपजायते' इति स्मरणादित्यर्थः ॥ ३ ॥

इमं बालक के लिए इन आपत्तियों में जल स्थल हो जाता और स्थल जल, अग्नि  
श्रीजल हो जाती और विष अमृत । असल में विश्वरूपापन, ऊर्जस्वी एवं कृपा-सागर भगवान्  
विष्णु का निरन्तर हृदय में स्मरण करने वाले सज्जनों का बलवान् क्या सभी अम-  
म्भाषित है ? ॥ ३ ॥

अहो मूर्खा मर्त्याः शृणुत हृदयस्थे नरहरौ

तदुद्भूतैर्भूतैर्मम किमपकारः प्रभवति ।

हरेरछत्रीभूते शिरसि भुजगानामधिपतौ

भुजङ्गैरुत्तुङ्गैर्मम किमु भयं सम्भवति वा ॥ ४ ॥

अहो शनि—अहो रे मूर्खाः मूढाः अतत्त्वार्थदर्शिन इत्यर्थः । मर्त्यां मरण-  
धर्माणो मनुजाः । शृणुत आकर्णयत । नरहरौ नृसिंहे विष्णौ मम हृदयस्थे चित्ता-  
न्तर्वर्तिनि सति तदुद्भूतैः तस्मात् हरेरेव उद्भूतैः जातैः मम ( तद्भक्तस्य प्रदा-  
स्य ) सर्वेषामेव भगवद्भक्तानामित्यर्थः । किम् कश्चित् अपकारोऽस्मङ्गलं प्रभवति  
भवितुमर्हति । नेत्यर्थं इति यावत् । भुजगानाम् अधिपतौ शेषनागे सर्पराजे हरे-  
शिरसि मूर्धनि छत्रीभूते आतपत्रिते सति उत्तुङ्गैः उच्चतरपि भुजङ्गैः सर्पैः मम किमपि  
किञ्चनापि भय घ्रासो वा, अत्र वा शन्दोऽपकारस्य समुच्चायकः । सम्भवति संभ-  
वितुमर्हति । न कदाचिदपीत्यर्थः ॥ ४ ॥

हे मूर्खों ! विनश्वर जन्तुओ ! सुनो, जब तक भगवान् नरसिंह मेरे अत्रःकरण में  
विराजमान हैं, तब तक उन्हीं से उद्भूत हुए तुम्हारे जैसे प्राणियों से भेरा क्या अपकार  
हो सकता है ! जब तक भुजगपति शेषनाग भगवान् विष्णु के शिर पर आतपत्र से बने  
हए हैं, तब तक इन उठे हुए सर्पों वाले सर्पों से क्या सुनें भय हो सकता है ? ॥ ४ ॥

मन्मातुरिन्द्रियायां किमु न ज्ञातं सहोदरं गरलम् ।

मातुलतामुपयातान् तस्मादस्मासु किं भयं भवति ॥ ५ ॥

मन्मातुरिन्द्रियायां—किमु किम् गरलं मन्पित्रा मन्मारणार्थं प्रयुक्तं विषं मन्मातुः मम  
जनन्या इन्द्रियायाः लक्ष्म्या विष्णुपत्न्या इति यावत् । सहोदरं सौदर्यं न ज्ञातं  
नावगतं मूर्धैरिति शेषः । श्रीविष्णुः मम पिता, अतः लक्ष्मीस्तत्परनीत्येन मम  
माता वर्तते । तथा सार्धमुत्पन्ना विद्यादयः सर्वेऽपि मम मातुः सौदर्यां पृथेति ततो

मम कथं विपत्तिर्भवितुमर्हति इति भावः । एतेन सम्बन्धेन मातुलतां मातुलत्वं मातृ-  
भ्रातृत्वम् उपयातात् उपगतात् तस्माद् विपात् अस्मासु अस्माकमित्यर्थः ( औप-  
श्लेषिकेऽधिकरणे सप्तमी । कुण्डे वदरमितिवत् । अस्मन्निष्ठविपादिहेतुकं भयमि-  
त्यर्थः ) किं कथं भयं भवति । भयसम्भावना न कथंचिदपि वर्तते इत्यर्थः ॥ ५ ॥

इन मूर्खों ने क्या यह नहीं समझा कि यह विप मेरी माता विष्णु-पत्नी लक्ष्मी का  
सगा भाई है ? भला इस मामा से मुझे क्या भय होगा ? ॥ ५ ॥

ततोऽमात्यवर्गैर्दैत्यराजमागत्य स्वसमुचितं समूचे । स्वामिन् !  
महादिदमाश्चर्यमस्माभिरनुभूतं यदर्भकोऽयं ज्वलनज्वालाभिरदाहः, कीला-  
लैरक्लेद्यः, शस्त्रैरच्छेद्यः गरलैरविकलाङ्गः । तस्मादधुना यातनाभिरलं,  
सामप्रकारेण यत्नोऽस्त्विति । ततः सुरारातिरपि प्रह्लादस्य सवयसः दैत्य-  
पुत्रानाहूय तानित्यादिदेश । रेः सुशीलाः शिशवः ! अस्मदर्भकस्य दुरा-  
त्मनः मनोगतमवधार्य तं च स्वशीलमुपदिशन्तु ।

ततस्तदोमिति दैत्यपुत्राः प्रह्लादमुपदेष्टुमुपक्रमं चक्रुः । अहो सर्वे  
सवयसः ! श्रूयतामिदमपूर्वं यत्पूर्वजानुष्ठितमध्वानमपहाय सर्वज्ञस्य पितु-  
खञ्जामयशश्चाविगणय्य विविधदुरन्तयातनोद्भवदुःखमनुभूय सारासार-  
विचारविधुरत्वेन यत्किंचित्कुर्वता प्रह्लादेन किमधिकमसाधि । तस्माद्-  
स्माभिः सर्वैः सहेतुकैर्वचनैरुपदेष्टव्यो यथा दुष्टाशयं परिहाय स्वमार्गमा-  
श्रयेदित्येवं सम्प्रधार्य प्रह्लादमवोचुः ।

तत इति—ततः तदनन्तरं दैत्यराजमागत्य अमात्यवर्गैः मन्त्रिवृन्दैः स्वसमुचितं  
स्वानुरूपं समूचे वच ऊचे । स्वामिन् ? प्रभो ? अस्माभिः इदं महत् आश्चर्यमनु-  
भूतम् । यत् अयम् अर्भकः ज्वलनज्वालाभिः दहनार्चिभिः अदाहः दग्धुमशक्यः  
कीलालैः जलैः अक्लेद्यः आर्द्रयितुमशक्यः शस्त्रैरायुधैः अच्छेद्यः छेत्तुम् अशक्यः  
गरलैर्विषैः 'गरलं तृणपूले च विषे माने नपुंसकम्' इति मेदिनी । अविकलाङ्गः न  
विकलानि ऊनानि विह्वलानि वा अङ्गानि अवयवा यस्य स तादृशो वर्तते । 'त्रिकल  
ऊने विह्वले' इति शब्दार्थचिन्तामणिः । तस्माद् अतो हेतोः अधुना एतर्हि यात-  
नाभिः पीडाभिः अलम् न किञ्चित् साध्यम् । सामप्रकारेण सान्ख्यवचनेन यत्नः  
प्रयासः अस्तु भवेत् । कर्तव्य इत्यर्थः । ततः तदनन्तरं सुरारातिः दैत्यः प्रह्लादस्य  
सवयसः समानवयसः दैत्यपुत्रान् आहूय आकार्यं तान् इति इत्थम् आदिदेश  
आज्ञापयामास । रे ! अहो ! सुशीलाः सुस्वभावाः शिशवोऽर्भकाः ! दुरात्मनः  
दुष्टस्य अस्माकम् अस्य अर्भकस्य ( प्रह्लादस्य ) शिशोः मनोगतं चिन्तान्तर्गतं  
चित्ताभिप्रायम् अवधार्य ज्ञात्वा, पूर्वं तदभिप्रायं निश्चित्येत्यर्थः तं स्वशीलं स्वाभि-

प्रायम् उपदिशन्तु बोधयन्तु । तत तदनन्तरं हिरण्यकशिपुवाक्यानन्तरं दैत्यपुरा  
 शोम् आमिति उक्त्वा स्वाकृत्येति शेष । प्रह्लादमुपदेष्टुम् उपक्रमम् उद्योग  
 चक्रुः अकार्षुः । कथमुद्योगमकार्षुरित्याह—अहो ! ह हो ! सर्वे समे सवयस  
 समानवयस इदम् अपूर्वम् अद्भुतवस्तु इति शप, श्रूयताम् यत् पूर्वजानुष्टिनम्  
 पूर्वजैः अस्माकं पितृपितामहप्रभृतिभिः अनुष्टिनम् अनुसृतम् अध्वानम् वरम्  
 अपहाय त्यक्त्वा सर्वज्ञस्य पितु अवज्ञाम् अवमानम् अयशो अकीर्तिम् च भवि  
 गण्य अत्रिचार्यं विविधदुरन्तयातनोद्भवदुःखम् विविधाम्य अनेकाम्य दुरन्ता  
 म्यश्च दुस्स्वकाम्यो दुरवसानाम्यो वा यातनाम्य पीडाम्य उद्भवम् उत्पन्नं दुःख  
 अनुभूय सारासारविचारविधुरत्वान् सारासारयो तत्त्वातत्त्वयो विचारे त्रिके  
 विधुर विकल तस्य भाव तेन सारासारविचाररहितत्वादित्यर्थं । यत् किंचिद-  
 ननुष्टेयं कर्म कुर्वता प्रह्लादेन किम् अधिकम् असाधि साधितम् । इदानीं यावत्  
 विष्णुभक्तिपरायणेन तन अम्मत्तोऽधिकं न किंचिदुपार्जितमिति यावत् । तस्मात्  
 अस्माभिः सर्वत्रपि मिलित्वा इदानीं सहेतुकैः युक्तियुक्तैः स प्रह्लाद उपदेष्टव्य-  
 प्रबोधनीय । अत्र तथेति शेष अत्रे यथेति वक्ष्यमाणत्वात् । यथा स दुष्टाशय  
 निजमिदं विष्णुभक्त्यारम्भकं दुरभिप्रेतमपहाय परित्यज्य स्वमार्गं पितृपितामहपर-  
 म्पराप्राप्त स्वमार्गम् आश्रयेत् इत्येवमित्थं सगप्रचार्यं निश्चित्य ते सर्वे प्रह्लादमबोधुः  
 ऊचिरे । अबोधुरिति अबोधसृष्टस्य प्रज्ञो लिट् रूपम् ।

इसके अनन्तर अमात्यवर्ग ने दैत्यराज के सनीप जाकर यथोचित निवेदन किया—  
 स्वामिन् । हम लोगों ने विचित्र आश्चर्य अनुभूत किया, कि यह बालक आग की लपटों से  
 नहीं जलाया जा सकता, जल में नहीं डुबाया जा सकता, शस्त्रों से नहीं घातित किया  
 जा सकता, विष से हमके अज्ञों में कोई विद्वृत्ति नहीं उत्पन्न की जा सकता, अतः ही सुरा  
 यानना का प्रयोग अब माम नीति का ही महाराज लाजिये । पश्चात् इस देवशत्रु ने  
 प्रह्लाद के ममवप्रकृत साधियों को बुलाकर यह आदेश दिया—अरे सुशील बालको ।  
 हमारे दुष्ट बालक के मनोभावों को परम वर [ जैसे ही ] अपने समान आचरण का  
 उपदेश करो । हम पर उन सब ने स्वीकृतिसूचक शब्द का प्रयोग किया और उन दैत्य  
 पुरुषों ने प्रह्लाद को उपदेश देने का उपक्रम किया ।

ह साधियों ! यह विलक्षण बात आप लोग सुनें कि अपने पूर्वजों के आचरित मार्ग का  
 परित्यज कर, सर्वज्ञ पिता के पितृपितामह अयश की ओर से विद्युत् ही नाना प्रकार के  
 दुःखमय परिणाम पैदा करनेवाली यात्रनाशों का अनुभव कर, मार एवं असार के विचार  
 में पराजित हो, मननाना कुट्ट का कुट्ट करने वाल प्रह्लाद ने क्या पा लिया ? अतः  
 हम सब का कर्तव्य है कि सुल्लिखित वचनों से उसे ऐसा उपदेश दें जिससे कि वह कुल्लिखित  
 विचार का परित्याग कर अपने परंपरागत आचार का आग्रह करे—देमा निश्चय कर उन  
 सब ने प्रह्लाद से कहा ।

पितुर्वृत्तं धत्ते तदनु जनकानन्दजनकः

सुशीलोऽप्यादत्ते सपदि पितुराज्ञां स्वशिरसि ।

सखे ! पुत्रः श्लाघ्यः समजनि गुणालंकरणतां

न सन्त्येवं पुत्राः किमु पशुतिरश्चाभितरथा ॥ ६ ॥

पितुरिति—हे सखे ! प्रह्लाद ! स पुत्रः श्लाघ्यः प्रशंसनीयो भवति स एव च गुणानामलङ्करणतां भूषणतां भजति । गुणा एव अलङ्करणानि भूषणानि यस्तु तस्य भावस्तत्ता तां गुणालङ्कृतत्वं भजते इत्यर्थः । स एव सुशीलोऽपि यः पितुर्वृत्तमाचरणं धत्ते । आचरणेन पितरमनुसरतीत्यर्थः । यश्च पितुराज्ञां सपदि शिरसा आदत्ते गृह्णाति धारयति स्वीकरोतीत्यर्थः । यश्च तदनु पित्राज्ञास्वीकारानन्तरं तत्सम्पादनेन जनकानन्दजनकः पितुः प्रमोदहेतुः । इतरथा अन्यथा किमु इति प्रश्ने, एवं भवादृशाः पित्राज्ञापरिपालनेऽदृष्टतदुद्भवः पशुनां गन्नादीनां तिरश्चां पक्षिणां च पुत्रा न सन्ति अपि तु सन्त्येव । पित्राज्ञाकारिण एव यथार्थतः पुत्रा नेतरे इति भावः ॥ ६ ॥

हे सखे प्रह्लाद ! वही पुत्र प्रशंसनीय होता है, उसी के गुण शोभापायक होते हैं, वही सुशील भी कहा जाता है, जो अपने पिता के आचरण को कार्यान्वित करता है, अर्थात् जो आचरण की दृष्टि से पिता का अनुसरण करता है, जो पिता की आज्ञा को शिरोधार्य करता है और तदनन्तर उसका सम्पादन करता हुआ अपने पिता को आनन्दित करता है । अन्यथा यों तो मनमाना आचरण करने वाले पुत्र पशुओं एवं पक्षियों के भी होते हैं; फिर उनसे आप की विशेषता क्या ? ॥ ६ ॥

छन्द—शिखरिणी ॥ ६ ॥

प्रह्लादः—

तातास्तावदमी समीरणचलस्नेहाः सुतानां मुदे

यावन्नेह पिता पितामहपिता संप्राप्यते भाग्यतः ।

तावद् दीपशिखाप्रकाशवशां विश्वं क्षणं मोदते

यावन्नोचनगोचरो न भवति प्रातर्निधिस्तेजसाम् ॥ ७ ॥

ताता इति—समीरणचलस्नेहाः समीरणवत् वायुवत् चलः चञ्चलः स्नेहः वात्सल्यं येषां ते अमी ताताः सांसारिका इमे पितर इत्यर्थः । तावदेव सुतानां पुत्राणां मुदे प्रसन्नतायै जायन्ते इति शेषः । यावत् इह जन्मनि भाग्यतः सौभाग्यवशात् पिता पितामहपिता-पितामहस्यापि पिता अनादिकालतः परम्पराप्राप्तः स वास्तविकः सर्वेषां पिता परमात्मा न प्राप्यते न लभ्यते । दीपशिखायाः प्रदी-  
पार्चिषः प्रकाशस्य वशां वशवर्ति इदमदो विश्वं जगत् क्षणं स्वल्पकालं तावदेव



मोदते हृष्यति यावत् तेजसां निधिः अर्कः प्रातः प्रभातवेलायां लोचनगोचरो न  
भवति नोदेति हृत्यर्थः ॥ ७ ॥

प्रसाद का उत्तर है—

वायु के समान अस्थिर स्नेह रखनेवाले ये सामारिक पिता तभी तक अपने बाप्यों  
के सुरार्थ होते हैं जब तक कि सौभाग्यसे सबका पिता परमात्मा नहीं मिलता । दीपशिखा  
से उत्पन्न होनेवाले प्रकाश का सहारा लेकर यह सप्ताह उनसे ही समय तक प्रसाद लाभ  
करता है जब तक प्रातःकाल तेजोनिधि दृष्टिगोचर नहीं होते ॥

धृन्द—शार्ङ्गविक्रीडित । अल्मार—दृष्टान्त ॥ ७ ॥

अगस्त्योऽभूत् कुम्भात् कथयत किमम्मो वहति वा  
न किं लोके श्लाघ्यः तदनु कलशोऽनेन मुनिना ।

अभूद् रम्भागर्भादतिसुरभिकर्पूरपटलं

तदादत्ते पर्णान्यथ च किमु रम्भां स्थगयति ॥ ८ ॥

नहि निर्गुणयोर्जडजडाश्रययोर्मातापित्रोर्वृत्तानुसरणं सगुणस्य दुग्धस्य लोके  
दृष्टं प्रस्युत तादृशपुत्रजन्मना तथाभूतयोरपि तयोर्लोकै आदरो दृष्ट इत्याह—

अगस्त्य इति—अगस्त्य. तच्चात्मा प्रसिद्धो महर्षिः. कुम्भात् कलशात् अभूत् अजा-  
यत । हे दीपशिखायः ? कथयत इदं तु वदत स अगस्त्यमुनिः किम् अम्मो जलं  
वहति ? न वहतीत्यर्थः । कलशयोनिरपि भूत्वा स जलं न वहति । तथापि तदनु  
अगस्त्यसम्भवात्तन्तरम् अनेन मुनिना अगस्त्येन कलशजातेन लोके जगति कलशो  
घटः जडाश्रयोऽपि न श्लाघ्य किम् ? प्रशस्य ष्येति भावः । रम्भाया. कदल्या  
गर्भात् मध्यात् अतिसुरभि अतिसुगन्धि कर्पूरपटल घनसारनिचयः अभूत् ।  
तत् कर्पूरपटलं पर्णानि आदत्ते किमु, नैवेत्यर्थः । अथ च तथापि लोकोऽति-  
सुरभि कर्पूरपटलं गौरवेण तन्मातृभूतामतिजडामपि रम्भां स्थगयति पिघत्ते ।  
पिघानेन तस्या आदरं करोतीत्यर्थः । एवं जडजडाश्रययोरपि मम मातापित्रोर्न-  
दीयविष्णुमक्तिगुणगौरवेण लोके पूजा भविष्यतीति भावः ॥ ८ ॥

और जहाँ तक माना-पिता के अनुसरण की बात है, वह निर्गुण माता पिता के  
सम्बन्ध में नहीं है, [ देखो ] महर्षि अगस्त्य की उत्पत्ति कुम्भ से हुई, पर क्या वे [ अपने  
पिता के समान ] जल वहन करते हैं ? नहीं; फिर भी हम महर्षि के कारण बाद में उस  
निर्गुण कलश की भी प्रतिष्ठा नही हुई ? इसी प्रकार रम्भा ( केली स्तम्भ ) के गर्भ से अति  
गन्धपूर्ण कर्पूर की उत्पत्ति हुई है; क्या वह अपनी माता के समान पत्र धारण करता है ?  
नहीं, इतना ही नहीं, कर्पूर के नामसे रम्भा को समार दंड देता है ।

धृन्द—शिलरिणी ॥ ८ ॥

अपि च—

जीवास्तावत् स्वकर्मनिर्मितानेकविचित्रयोनिषु चिरं भ्रमन्तः प्रति जन्म परस्परं पितापुत्रतां प्रपद्यन्ते एव । तत्र तत्र तज्जातिवर्णाश्रम-धर्माभिमानेन यावज्जीवं वर्तमानाः शनैर्देहभोगं समाप्य विधिवशाद्-स्माद् विपद्यन्ते । तथा च कैः केपामुद्भृतिरिति निश्चयेऽपि तन्माया-ग्रस्ताः पुनर्मोहमेवानुसरन्ति ।

जीवा इति । जीवाः स्वैः स्वैः कर्मभिः निर्मितासु स्वकर्मानुरूपं प्राप्तासु अने-कासु विचित्रासु योनिषु चिरं भ्रमन्तः परिभ्रमन्तः सन्तः प्रतिजन्म जन्मनि जन्मनि परस्परम् अन्योन्यं पितापुत्रतां प्रतिपद्यन्ते प्राप्नुवन्त्येव । तत्र तत्र तासु तासु विचित्रासु योनिषु ब्राह्मणक्षत्रियादितत्तद् वर्णाभिमानेन ब्रह्मचर्यादितत्तदाश्रमाभि-मानेन च यावज्जीवं जीवनपर्यन्तं वर्तमाना विद्यमानाः शनैः देहभोगं शरीरभोगं समाप्य विधिवशाद् अस्माद् देहात् विपद्यन्ते वियुज्यन्ते त्रियन्ते इति यावत् । तथा कैः कर्मभिः केपां जीवानामुद्भृतिः उद्भरणमिति निश्चयेऽपि निर्णयेऽपि तन्माया-ग्रस्ता तस्य विधेः मायया ग्रस्ताः भगवतो माययाऽपहतज्ञानाः पुनः भ्रूयोऽपि मोहमेवानुसरन्ति पितृभक्त्या ममोद्धार इति पुत्रस्य मोहः, पुत्रकृतपिण्डदानादि-क्रियया च ममोद्धारः इति पितुर्मोहस्तं परस्परं प्राप्नुवन्तीति भावः ।

और भी—

जीवमात्र अपने अपने कर्म के फलस्वरूप अनेकानेक विचित्र योनियों में अनादि काल से भरमाते हुए जन्म जन्म में पिता-पुत्र-भाव को परस्पर प्राप्त होते रहते हैं । और फिर उक्त उक्त योनि में अपनी जाति एवं वर्णाश्रम धर्म के अभिमान से चूर हो होकर जीवन भर धीरे धीरे प्रारब्ध भोग को समाप्त कर देवात् इस शरीर से विच्छिन्न हो जाते हैं । और यद्यपि यह बहुत ही स्पष्ट हैं कि किन कर्मों से किसका उद्धार हो सकता है, तथापि परमात्मा को माया के चंगुल में फँसा हुआ लोक पुनः पुनः मोह को प्राप्त होता रहता है ।

अपरे तु—

यं सखे स्मरसि सोऽस्ति को हरिः किं प्रयोजनमनेन हन्त ते ।  
राज्यभोगमपहाय शाश्वतं यातना कथमथानुभूयते ॥ ६ ॥

यनिनि । हे सखे ! यं हरिम् अनन्यमनाः त्वं स्मरसि चिन्तयसि ध्यायसि स ते हरिः कः कीदृशो वर्तते । हन्त ? वत्त ? अनेन हरिणा ते तव किं प्रयोजनम् किं फलं चिन्त्यमानेन साध्यते । शाश्वतं सार्वकालिकं राज्यभोगम् आधिपत्यसुखं परि-त्यज्य कथं यातनाक्लेशोऽनुभूयते ॥ ९ ॥

अन्य दैत्यशिशुओं ने कहा—

हे सखे ! जिस हरि का तुम एकचित्त होकर स्मरण किया करते हो वह तुम्हारा ही कैसा है ? इससे तुमको देना देना क्या है ? इस शादवत राज्यभोग का परित्याग कर क्यों [ अकारण ] यातना का भोग कर रहे हो ?

छन्द—रघोदता ॥ ९ ॥

अपि च—

दुर्बलं नरशरीरमीदृशं तत्पुनर्गुरुगदाधिवर्जितम् ।

वैभवं जगति विस्तृतं सखे मृग्यतेऽथ किमतः परं त्वया ॥ १० ॥

दुर्बलमिति । एवं तु नरशरीरम् नृदेह एव ईदृशमित्थं दुर्बलं कृशं वर्तते । तत्पुनरस्यशरीरं यदि गुरुगदाधिवर्जितं गुरुभिः महद्भिः राज्यस्त्रमादिभिः गर्दैः रोगैः व्याधिभिः मानसीमिर्व्यथाभिः वर्जितं रहितं भवेदिति शेषः । जगति लोके विस्तृतमिति विपुलं वैभव घनधान्यादिकं भवेत् । अधानन्तरम् अतः परम् इतोऽप्यधिब्रह्मया किं मृग्यतेऽन्वियते यदर्थं हरिः सेव्यते इति भावः । हे महाद ! प्रकृत्या मानवानां शरीरं दुर्बलं भवति, किन्तु यदि तत् रोगैः मानसव्यथाभिश्च रहितं प्राप्येत । अथ च विपुला सम्पददाप्येत सदा ततोऽधिकं किं मार्गणीयं पुंसः । तस्यै सत् त्वया सर्वमपि सुलभमतः त्वया हरिः किमिव्याराप्यते ॥ १० ॥

और भी,

यह मानव शरीर, जो नितान्त दुर्बल है, यदि कहीं वह राज्यरुमा जैसे दुरन्त रोगों एवं मानसी व्यथाओं से रहित हो जाय और उस पर भी यदि इस संसार में अथाह वैभव प्राप्त हो जाय, [ तो इसे त्यागकर ] हे सखे ! तुम और इससे अधिक क्या प्राप्त कर सकोगे जिसकी खोज कर रहे हो ? [ हरि की उपासना से क्या मिल जायगा ! ]

छन्द—रघोदता ॥ १० ॥

प्रह्लादः—

आत्मानं स्वशरीरमेव मनुते मुक्तिं सुपुत्रिं पराम्

आनन्दं विषयोपभोगभजनं विज्ञानहीनो जनः ।

देहं मूत्रपुरीषपूरितमसौ नो वेत्ति निद्रां पुनः

चित्ताभ्रान्तिमयं विरामसमये शोकप्रदान् गोचरान् ॥ ११ ॥

आत्मानमिति । विज्ञानहीनः विदिष्टं ज्ञानं विलक्षणं ज्ञानं वाऽनुभवरूपं तत्त्वसाक्षात्कारस्तद्वरदितः अज्ञः जनः स्वशरीरमेव आत्मानं मनुते जानाति । देहव्यतिरिक्तं सच्चिदानन्दरूपम् आत्मानमयं नैव वेत्तीत्यर्थः । सुपुत्रिमेव, सर्वविषयज्ञानरूपां निद्रामेव । शोमना मुक्तिः सुपुत्रि सा चाज्ञानरूपैव सुपदसमभि-

व्याहारात् । तां सुपुष्टिं, परां मुक्तिं, सालोक्य्यादिरूपाऽपरामुक्तिस्तदपेक्षया प्रकृष्टा मुक्तिमपवर्गं मनुते । अज्ञाननाशरूपं ज्ञानसारूप्यं नेत्यर्थः । विषयाणां अज्ञाननादिविधिविधपदार्थानाम् उपभोगभजनम् उपभोगः सुखसाक्षात्कारस्तद्भजनं तत्सम्पादनमित्यर्थः । आनन्दं वेत्ति । असौ अतच्चज्ञः सांसारिको जनः देहं मूत्रेण पुरीषेण विष्टया च पूरितं निर्भरं नो वेत्ति । यदि स इमं देहं मूत्रादिपुरीतं विद्यात् तर्हि ततो जुगुप्सेत न चैनम् आत्मानं प्रतीयात् । निद्रां चित्ताभ्रान्तिं चेतसो विषयेषु भ्रमणाभावम् अज्ञानमिति यावत् । चित्ताभ्रान्तिमिति त्वपपाठः । तदानीं चेतसो लयाभ्युपगमेन भ्रमणासम्भवात् । न वेत्ति । किंचायमज्ञानाधिमोहितधीः पुमान् गोचरान् विषयान् विरामसमये अवसाने परिणतौ वा शोकप्रदान् दुःखदायिनो न जानाति । अत एव तेषु आसक्तो भवति । 'गोचर इन्द्रियार्थं रूपशब्दगन्धस्पर्शरसस्वरूपे' इति शब्दार्थचिन्तामणिः ॥ ११ ॥

प्रहाद का उत्तर है--

पारमार्थिक ज्ञान से वञ्चित रहने वाले ये सांसारिक जन अपने शरीर को ही आत्मा मानते हैं, सुपुष्टि को ही चरम मुक्ति समझते हैं । वे यह नहीं जानते कि यह शरीर मूल-मूत्र जैसे गंदे पदार्थों से परिपूर्ण है, यह निद्रा केवल चित्त का विषयों से अधिक विच्छेद है । वे यह भी नहीं समझ पाते कि ये इन्द्रियगोचर पदार्थ अन्त में शोकदायी ही होते हैं ॥

छन्दः--शार्दूलविक्रीटित ॥ ११ ॥

अहो अहो महदज्ञानं जनानां यत् पुत्रकलत्रमित्रद्रविणविद्यावयो-  
भिर्व्यमतिरूढाः इत्यहंकाराधिरूढाः केचिन्मूढाः स्वप्रौढिं नाटयन्तः शक्र-  
मपि न गणयन्ति । केचिदाचारचारुचरितैर्व्ययमध्वरकर्ममर्मकुशलाः इति  
दम्भसंभारसंभृताः पितामहमपि हेलयन्ति । केऽपि कृतान्तकलितकव-  
लायितकलेवरा अपि वयं प्रौढप्रतापचक्रवर्तिन इति स्वभुजगर्वं भाष-  
माणा दानवाः स्वहितमजानन्तः रमारमणचरणपरिचरणपराङ्मुखाः  
संसरणमरणमालाकुलाः सीदन्ति । तत्र यूयं पुनर्वालिशाः सततमन्धपर-  
म्परापरिणतिप्रस्ता एव ।

अहो इति--अहो इति महाश्चर्यद्योतनार्थं पुनरुक्तिः । जनानामिदं महदज्ञान-  
विजृम्भणं यत् तेषु केचिन्मूढा 'वयं पुत्रैः तनयैः' कलत्रेण दारैः, मित्रैः सुहृद्भिः,  
द्रविणेन धनेन, विद्यया ज्ञानेन, वयंसा आयुषा च अतिरूढाः प्रवृद्धाः स्म' इति  
इममहङ्कारम् अभिमानमधिरूढाः आश्रिता सन्तः स्वप्रौढिं स्वोत्कर्षं नाटयन्तोऽभि-  
नवन्तः प्रदर्शयन्त इति यावत् । शक्रमिन्द्रमपि न गणयन्ति, इन्द्रमपि स्वस्मा-

दून मन्यन्ते इत्यर्थ । अपरे केचित् आचारचारचरिते आचारस्य स्नानाचमन-  
सन्ध्यावन्दनादिशास्त्रविहितव्यवहारस्य चारु सम्यक् चरिते अनुष्ठाने ययम् अत्र  
रकर्ममर्मकुशला अध्वरस्य यज्ञस्य कर्मण क्रियाया मर्मणि तत्त्वज्ञाने कुशला  
निपुणा स्म इति शेष । इति इत्य मन्वाना दग्भस्य मिथ्याचारस्य सम्भारेण  
अतिशयेन सम्मृता सद्गता सन्त पितामहमपि ब्रह्माणमपि हेलयन्ति अचजानन्ति ।  
केऽपि इतरे केचन पुन कृतान्तकलितकवलायितकलेवरा कृतान्तेन कीनाशेन  
कलितो गृहीतकवले ग्राम इति कृतान्तकलितकवलेस्तद्वदाचरित कलेवर शरीर  
येषा ते । अथवा एव विग्रह—कृतान्तेन यमेन कलित घृत कवलायित ग्रामीकृत च  
कलेवर शरीर येषां ते । यमराजाध्वन्यध्वन्यभूता अपि इत्यर्थ । यय, प्रौढ प्रष्टुद  
प्रताप तेज यया ते, ते च चक्रवर्तिन इति इत्य स्वयोर्भुजयोर्बाह्वो गर्वमहद्भार  
भापमाणा कथयन्त दानवा दैत्या स्वहितमजानन्त वास्तविक स्वहित पथ्य-  
मजानन्त अजानाना रमारमणस्य श्रीविष्णो चरणयो पादयो परिचरणात् सेव  
नात् पराङ्मुखा ससरणस्य जन्मन मरणस्य मृत्योश्च मालया परम्परया आकुला  
स्थग्रा सीदन्ति दुःखभाजो भवन्ति । तत्रापि यूय पुनर्वाल्लिशा पुन आवृत्त यद्-  
वाल्लिशाव मौढ्य तद्गन्तोऽतिमूढा स्थ ये सततमनारतम् अन्धपरम्पराया स्वपितृ-  
पितामहाचारप्राप्ताया विष्णुद्वेषरूपाया परिणत्या परिणामेन अनर्थन ग्रस्ता एव ।

अहो ! आश्चर्य है कि इन प्राणियों में कितना अज्ञान भरा है । पुत्र, पत्नी, मित्र,  
धन, विद्या एवं वन आदि से हम सब भरे-पूरे हैं—इस अहङ्कार की भावना से परिपूर्ण  
कुछ मूर्ख अपनी महत्ता का अभिनय करते हुए इन्द्र को मा कुछ नहीं समझते । कुछ  
लोगों की दशा यह है कि वे स्नान, सव्यावन्दनादि वेद-विहित कर्मों का सम्यक् अनुष्ठान  
करने के कारण अपने को यह समझा करते हैं कि हम ही सब यशकर्म के मर्मों को जानने  
वाले हैं—और हम प्रभार दग्भाचरण से आनखशिव व्याप्त हो ब्रह्मा की भी अवदलना  
किया करते हैं । कुछ लोगों की स्थिति यह है कि यद्यपि उनका शरीर कृतात् द्वारा गृहीत  
ग्रास से अधिक महत्त्व नहीं रखता, तथापि समझत यह है कि हम सब प्रौढ़ प्रतप के  
कारण चक्रवर्ती ही बने रहेंगे । इसी भावना में अपनी भुजाओं की शक्ति ब्यारते हुए वे  
दानव अपने पारमार्थिक कल्याण से सर्वथा अनभिग रह कर रमारमण की चरणमेवा से  
पराङ्मुख रहते हैं और जन्म-मरण के चक्कर में पड़ हुए निरन्तर क्लेश का अनुभव  
करते हैं । इस स्थिति में फिर भी यह मूर्ख बालक अपनी मोहग्रस्त परम्परा से ग्रस्त  
दिखाइ पटना हैं ॥

ततो दैत्येशः ब्रह्मादवास्त्र्येरप्रतिभान् दनुजानुनान् पित्राय स्वमुत सम-  
क्षमाह्वय किंचिदात्प्रिष्टवान् ।

तत्र इति—ततस्तदनन्तर दैत्येशः स हिरण्यकशिपुः ब्रह्मादवास्त्र्यै ब्रह्मादस्य

कथनोपकथनैः दनुजानुजान् दानवभ्रातृन् अप्रतिभान् प्रतिभारहितान् प्रतिहत-  
बुद्धीन् विज्ञाय ज्ञात्वा स्वसुतं समक्षं प्रत्यक्षमाहूय आकार्यं निम्नप्रकारेण किञ्चित्  
किमपि आदिष्टवान् आदिदेश ।

इसके अनन्तर उस दैत्यराज हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद के कथोपकथन से अपने  
दानव भाइयों को निष्प्रतिभ समझ कर अपने पुत्र को सामने बुलाया और कुछ  
आदेश दिये ।

मदीयवशवर्तिनस्त्रिदशयक्षरक्षोगणाः

तथा भुजगभूभुजः सकलमानवा दानवाः ।

अभीप्सितफलप्रदो मदनुवर्तिनां वा नृणाम्

अहं हि जगदीश्वरः किमु न मां भजस्यात्मज ॥ १२ ॥

नदीयेति । त्रिदशानाममराणां यक्षाणां पुण्यजनानां 'यक्षः पुण्यजने' इति  
कोपः । रक्षसां राक्षसानां गणाः वर्गाः सकलाश्च दानवाः समग्रा दनुजाः मानवाः  
मनुष्याः तथा भुजगभूभुजः सर्पाधिपाः सर्वेऽप्यमी मदीये वशे वर्तन्ते तच्छ्रीला  
इति मदीयवशवर्तिनः, मम वशगाः सन्तीति शेषः । अहं वा, अहमेव, 'वा स्याद्-  
विकल्पोपमानयोरेवार्थेऽपि समुच्चये' इत्यमरः । मदनुवर्तिनां स्वभक्तानां नृणाम्  
अभीप्सितफलप्रदः अभीप्सितं स्वाभीष्टं फलं प्रददाति इति तथाभूतः, जगदीश्वरः  
जगत्पालकः अस्मि । हि शब्दोऽत्र प्रसिद्धिं द्योतयति । हे आत्मज ! पुत्र ! त्वं मां  
( हिरण्यकशिपुं स्वजनकम् ) किमु न भजसि किमर्थं नाराधयसि ? ॥ १२ ॥

देव, यक्ष, राक्षस, सर्पराज, निर्रिज मानव एवं दानव सभी मेरे वश में हैं । मेरा ही  
अनुसरण करनेवाले जो मानव हैं, उन्हें अभीप्सित फल का विधान करनेवाला जगत्पालक,  
जगदीश्वर नाम से मैं ही ख्यात हूँ । सो हे पुत्र ! तुम मेरी ही भक्ति क्यों नहीं  
करते ? ॥ १२ ॥

प्रह्लादः—

पङ्क्तिर्मिपरिदूषितः क्षणिकचित्तवृत्तिः पुमान्

अहंकृतपरोऽसुरः परमकोपनो दाम्भिकः ।

जनेषु ननु निष्कृपः कृपणभाषणो यः स्वयं

कथं नु जगदीश्वरं कथयितुं स नो लज्जसे ॥ १३ ॥

पङ्क्तिर्—पुमान् मनुष्यः स्वभावतः पङ्क्तिर्मिपरिदूषितः बुभुक्षादिभिः पङ्क्ति-  
र्विकारैः परिभूतो भवति । 'बुभुक्षा च पिपासा च प्राणस्य मनसः स्मृतौ । शोक-  
मोहौ शरीरस्य जरामृत्यू पङ्क्तिर्मयः' । तथा पुरुषः क्षणिकचित्तवृत्तिः क्षणिका अनव-  
स्थायिनी चित्तवृत्तिः मनोव्यापारो यस्य स भवति । अस्थिरबुद्धिर्भवतीत्यर्थः ।

पुरेष्वपि असुरः राक्षसः अहङ्कृतिपरः अहङ्कृतिरहङ्कारः तत्परः तत्परायणः भवति । परमकोपनः अत्यर्थं कुपितस्तिष्ठति । दाम्भिकः मिथ्याचारी च भवति । ननु इत्यामन्त्रणे । 'प्रभावाधारणानुशानुनयामन्त्रणे ननु' इत्यमरः । यस्त्वं स्वयं जनेषु मनुष्येषु निष्कृपो निर्दयः कृपणभाषणः कृपणस्य क्षुद्रस्येव परंपं भाषणं यस्य स तथा परंपवाक् धर्तसे । 'कदर्यः कृपणक्षुद्रकिम्पदानमितम्पचाः इत्यमरः । स एव आत्मानं जगदीश्वरं कथयन् प्रतिपादयन् कथं न लज्जसे न हणीयसे । नु इति प्रश्ने । 'नु पृच्छायां विकल्पे चे'त्यमरः ॥ १३ ॥

प्रहाद ने उत्तर दिया—

पुरुष स्वभावतः ही प्राण एवं मन की बुद्धि, पिपासा, शोक । मोह और जरा के साथ मरण इन छः कमियों से ग्रस्त रहता है । इन कमियों के अतिरिक्त उसकी बुद्धि अन्यवसायात्मिका होती है । पुरुषों में भी असुर तो महान् अहङ्कारी, परम क्रोधी एवं दाम्भिक होता है । जो व्यक्ति (असुर) प्राणियों में घोर निष्ठुर एवं क्षुद्र के समान वक्ता स्वयं है, वह अपने आपको जगदीश्वर कहते हुए क्यों नहीं लज्जा का अनुभव करता ? ॥ १३ ॥

दैत्यः—

चिच्छैतन्यं ब्रह्म चात्मा परात्मेत्येवं नामान्यात्मनोऽहं विज्ञाने ।

- तस्मादन्यः कोऽयमस्ति हरिस्ते माकारश्चेन्नश्वरोऽनीश्वराख्यः ॥ १४ ॥

चिच्छैतन्यमिति—हे प्रहाद ! अहम् आत्मनः चित्, चैतन्यं, ब्रह्म, आत्मा, परात्मा इति एवमित्यं भिन्नानि नामानि नामधेयानि विज्ञाने जानामि । नास्मादतिरिक्तमन्यत् किमपि ब्रह्मादिकं वेद्यीत्यर्थः । स तु निराकारत्वादुपासकस्यामभूतावाद्यनोपासनकर्मतामर्हति । उपासनक्रिया हि कश्चिद् गुणमपेक्षते, न कर्तव्यं कर्म भवतीति भावः । ते नव मते तस्मादतिरिक्तः अयमन्यः कः हरिः अस्ति यं एव भजसीत्यर्थः । चेत् यदि स स्वदभिप्रेतं परात्मा माकारः आकृतिमान् तदा स नश्वरः सृष्टिकः अत एव अनीश्वरश्च अप्रमुश्च भवति ॥ १४ ॥

दैत्य ने कहा—

हे प्रहाद ! चित्, चैतन्य, आत्मा एवं परात्मा इन सबको तो मैं आत्मा का ही नाम समझता हूँ । उनसे भिन्न कौन है यह तेरा हरि ? यदि तुम्हारा हरि कोई साकार है तो निश्चय ही वह नश्वर एवं अनीश्वर है ॥

छन्द—'शालिनी' । शालिन्नुक्ता म्नी तयो गोऽभिलोकैः ॥ १४ ॥

अपि च—

आत्मा तावदसङ्गोदासीनोऽनाकृतिः शुद्ध आकाशकल्पः, तदन्यो हरिश्चेत् स्वल्पक्षपाती तर्हि शरीरित्यादनित्यः तथैकदेशित्वाद्ब्यापकश्च ।

तथैव स्मर्तव्य इति चैतिकमस्माभिरपराद्धं यदस्मान्न भजसि ।

उक्तमेवार्थं प्रपञ्चयति अपि चेत्यादिना—आत्मेति । आत्मा तावदसङ्गः सङ्गरहितः 'असङ्गोऽयं पुरुषः' इति श्रुतेरित्यर्थः । उदासीनः रागद्वेषादिरहितः । लोके हि रागद्वेषादिरहित उदासीन उच्यते । अनाकृतिः आकृतिरहितः अशरीरित्यर्थः । अत एव शुद्धः अविद्यादिदोषरहितः इत्यर्थः । आकाशकल्पः सर्वव्यापक इत्यर्थः । चेत् यदि त्वत्पक्षपाती तवाभिप्रेतः अन्यः कश्चित् हरिरास्ते तर्हि स शरीरित्वात् अनित्यः अशाश्वतः भवति । तथा किं च एकदेशित्वात् एकत्र स्थितत्वात् स त्वदभिमतः परमात्मा अच्यापकः असर्वगः । यदि तादृशमपि तं त्वं 'स्मर्तव्यः चिन्तनीयः' इति वदसि तर्हि अस्माभिः किमपराद्धं कोऽपराधः कृतः यत् अस्मान्न भजसि ।

और भी,

आत्मा निरासक्त, उदासीन, आकाररहित, शुद्ध, आकाश की तरह व्यापक है । यदि तुन्दारा पक्षपाती हरि इससे भिन्न है तो निश्चित ही वह शरीरधारी होने के कारण अनित्य और सीमित देश से सम्बन्ध रखने के कारण अच्यापक है । और यदि ऐसे ही की उपासना करनी है, तो मैंने क्या अपराध किया है ? जो मुझे नहीं भजते ?

प्रह्लादः—

सान्द्रानन्दं यदन्तः स्फुरति यदुदये दृश्यधीरस्तमेति

स्वप्नो यद्वत्प्रबोधि विलसति च यदज्ञानतो विश्वमेतत् ।

रज्ज्वज्जानादिवाहिर्यदपि सवितृवत् साक्षितां यातमेव

ज्योतिर्नारायणाख्यं तदनु भगवतो नित्यमन्तः स्मरामि ॥ १५ ॥

सान्द्रानन्दमिति—सान्द्रानन्द घनानन्दं यद् ब्रह्म अन्तः सर्वस्यान्तरात्मनि स्फुरति सञ्चरति । यदुदये यस्योदये दृश्यधीः दृश्यानां पदार्थानां धीः बुद्धिः यदार्थान्तरस्मृतिरित्यर्थः । अस्तमेति नश्यति । हृदि यदुदयानन्तरं वस्त्वन्तरप्रतीतिरेव न भवतीत्यर्थः । यद् वत् यथा प्रबोधे जागरणकाले स्वप्नोऽस्तमेति किञ्च रज्जोः अज्ञानात् यथा अहिः प्रतीयते, तथैव यस्य ब्रह्मणः अज्ञानतः एव एतत् विश्वं दृश्यमिदं जगत् विलसति विराजते स्फुरतीत्यर्थः । यदाह श्रीशङ्कराचार्यः 'यदज्ञानतो भाति विश्वं समस्तं विनष्टं च सद्यो यदात्मप्रबोधे ।' यदपि यच्चापि ब्रह्म सवितृवत् सूर्यवत् साक्षितां साक्षात्सर्वद्रष्टृतां सर्वावभासकत्वमिति यावत् । यातं गतम् । अहं तु नित्यं सततं तदेव अनु सर्वाणुगतं नारायणाख्यं ज्योतिः अन्तः स्वात्मनि स्मरामि ।

प्रह्लाद—जो सबकी अन्तरात्मा में आनन्दरूप से स्फुरित होता रहता है, जिसके उदय ( ज्ञान ) होने पर अन्य पदार्थों का ज्ञान ही अस्त हो जाता है । अर्थात् जिसके ज्ञान से सारा प्रपञ्च उसी प्रकार अस्त हो जाता है जैसे जागृतावस्था में स्वप्न पदार्थ; जिसके



अज्ञान से हम विद्व का उसी तरह स्फुरण होता है, जैसे रस्ती के अज्ञान से सर्प का, जो सूर्य के समान सबका भासक है, मैं उसी सर्वान्तर्यामी भगवान् की नारायणनामक ज्योति का अन्तःस्वरण में नित्य स्मरण किया करता हूँ ॥

छन्द—सग्वरा ॥ १५ ॥

अपि च—

य स्वसङ्कल्पमणिनिर्मितानेकप्रचण्डप्रह्लाण्डानेककटाहकोटिपु चिदे-  
करसत्वेनायस्थितोऽपि परमात्माऽम्बुदावर्तलहरितरङ्गैरणव इव, कट-  
कवेयूरकुण्डलादिभिः सुवर्णमिव, पद्मगन्गामुरामुरादिभिरुद्यावचादियो-  
निभिः पृथगिवाभासते, स एव प्रकृतिमवष्टभ्य लीलया भक्तजनानु-  
ग्रहगृहीतमिहो वैकुण्ठकण्ठीरवः सर्वोत्कर्षेण वर्तते । यथा मण्डलीकृत-  
मार्तण्ड एव एकदेशोऽवस्थितोऽपि त्रिंश्व प्रकाशयति तथा यत्र येनाय-  
लोकितस्तेन तत्रैव दृश्यते तथा हरिरपि । अथ वस्तुमहिमाऽप्यलौकिक  
एव । यथा मूर्तयोरेव स्पर्शान्यपापाणयोर्महिमतारतम्य प्रत्यक्षसिद्धमेव ।

य इति—य परमात्मा स्वसङ्कल्प एव मणि तेन निर्मितानि रचितानि यानि  
प्रचण्डानि दुर्बहाणि प्रह्लाण्डमण्डलानि तान्येव कटाहा अयोमया पात्रविशेषा  
तेषां कोटिपु कोटिसख्याकेषु प्रह्लाण्डेष्वियं यथं । चिदकरसत्वेन ज्ञानघनत्वेन अथ  
स्थितोऽपि यथा एकोऽपि अर्णव सागर, अम्बुदो मेघ, आवर्तोऽभ्रमया भ्रम  
एहरिमहातरङ्ग तरङ्गो वीचि, एभिर्यथा पृथगिवावभासते यथा एकमपि सुवर्णं  
कटककेयूरकुण्डलादिभिः कङ्कणाङ्गदङ्कुण्डलादिभिः पृथक्त्वेनावभासते द्योतते तथैव  
वेदमेकमपि प्रह्लाण्ड पद्मगै सर्प, नगै वृक्षै, सुरै देवै, अमुरै दनुजै उद्यावचा  
दियोनिभिः नैकविधयोनिभिरित्यर्थः । पृथगिव निरुमितप्र प्रकाशते । स एव  
वैकुण्ठकण्ठीरव कदाचित् 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्टानाम् । धर्मं  
सस्थापनार्थाय मग्भवामि युगे युगे' इति स्मृतिमनुमरन् लीलयाऽनायासेनैव  
स्वामेव प्रकृतिमवष्टभ्य भक्तजनोपरि अनुग्रहेण अनुकम्पाविशेषण स्वीकृततत्त  
च्छरीर सर्वोत्कर्षेण वर्तते विजयते इत्यर्थः । यथा यद्वत् मण्डलीकृतमार्तण्ड  
प्रेरणाशक्तिर्यथा कृद्यावयोऽत्र भासनम्, यतुलीमूत सूर्यविम्बम् एकदेशे एकस्मिन्  
स्थाने अवस्थितोऽपि स्थितमपि सकल जगत् प्रकाशयति तथा किंच यत्र येन  
अवलोकितं तत्रैव तेन दृश्यते, तथा तथैव हरिरपि वैकुण्ठकण्ठीरवोऽपि सर्वत्रैव  
वर्तते । अथ अथ च वस्तुमहिमा अपि पदार्थस्वभावातिशयोऽपि अलौकिको विल-  
क्षणं अस्तीति शेषः । उदाहरणार्थं मूर्तयो कल्पिनयो स्थूलयो परिच्छिद्ययोरेव  
वा स्पर्शान्यपापाणयो स्पर्शस्य ( पारम इति लोके ख्यातस्य मणिमेदस्य पापाण-

भेदस्य वा ) तथा अन्यपापाणस्य तदितरस्य पापाणस्य महिम्नः उत्कर्षस्य तार-  
तम्यं तरतमभावः न्यूनाधिक्यं प्रत्यक्षसिद्धमेव सर्वेषां नः लोचनगोचरमित्यर्थः ।

और भी,

जो परमात्मा अपने संकल्प-रूपी मणि से निर्मित इन अनेक विशाल ब्रह्माण्ड स्वरूप कड़ाहों में चैतन्य रूप से एक-रस बहते हुए भी सर्प, वृक्ष, देव, दानव आदि ऊँची-नीची योनियों से उसी प्रकार अपने आपको भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट करता है, जैसे एक ही समुद्र अपने आपको मेघ, जल भँवर, एवं छोटी बड़ी तरंगों के रूप में व्यक्त करता है; जिस प्रकार एक ही सुवर्ण कङ्कण, अङ्गद, एवं कुण्डल आदि भिन्न-भिन्न रूपों में व्यक्त होता है, वैसे ही अपनी प्रकृति का सहारा लेकर लोलावश भक्तजन पर अनुग्रह-विधानार्थ शरीर धारण करने वाला वैकुण्ठ लोक का सिद्ध सबके ऊपर है । जिस प्रकार लघु-काय मण्डलाकार मार्तण्ड सीमित देश में स्थित रहकर भी निखिल विश्व को प्रकाशित करता है, और जिस प्रकार जहाँ-कहाँ भी स्थित व्यक्ति उसे अपने ही समझ देखता है, वही स्थिति हरि की भी है । और दो वस्तुएँ आकार में एक होने पर स्वभाव में भी एक ही हों सो आवश्यक नहीं; उनकी महिमा विलक्षण ही होती हैं । उदाहरणार्थ, स्पर्श ( पारस ) मणि भी एक पत्थर ही है, पर अन्य पत्थरों से उसका तारतमिक माहात्म्य प्रत्यक्ष ही सिद्ध है ।

दैत्यः—

सुतारामे ग्रामे गिरिशिरसि घोषे तरुवरे

पुरेऽरण्ये गण्ये वसति ननु यस्मिन्निलयने ।

श्मशाने वा चैत्ये दृपदि च तडागे वसति वा

हरिस्ते कुत्रास्ते वद सपदि तस्याधिवसतिम् ॥ १६ ॥

सुताराम इति—हे सुत ! पुत्र प्रह्लाद ! स तवाभीष्टो देवो हरिः श्रीविष्णुः कुत्र क्व आस्ते तिष्ठति सपदि शीघ्रमेव तस्याधिवसतिम् अधिष्ठानं वद कथय । स ते हरिः किम् आरामे उपवने, ग्रामे कस्मिंश्चिद् ग्रामविशेषे, तरुवरे अश्वत्थादिभेदे कस्मिंश्चिद् वृक्षश्रेष्ठे, गिरिशिरसि अथवा कस्यचिद् गिरेः पर्वतविशेषस्य शिखरे, कस्मिंश्चिद् घोषे आभीरपल्ल्याम् 'घोष आभीरपल्ली स्यात्' इत्यमरः । पुरे महानगरे इत्यर्थः । अरण्ये वने, अथवा गण्ये श्रेष्ठे कस्मिन्निलयने -( निलीयतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या ) श्मशाने शवदाहस्थाने, चैत्ये देवस्थाने यज्ञमन्दिरे वा । 'चैत्यो देवस्थाने यज्ञ-स्थाने देवतरौ देवावासे इत्यादि' इति शब्दार्थचिन्तामणिः । दृपदि पापाणे तडागे जलाशये वा वसति । अत्र वसतीति पदं सर्वत्र सम्बध्यते ।

दैत्यः—हे सुत ! तुम्हारा वह उपास्य हरि कहाँ रहता है ? शीघ्र उसका निवास-स्थान बताओ । क्या वह तुम्हारा आराधनीय उद्यान में रहता है अथवा ग्राम में, अथवा पर्वत के शिखर पर, अथवा आभीरों की वस्ती में, अथवा किसी महानगर में रहता है, अथवा वनप्रान्त

में, अथवा किसी श्रेष्ठ क्षमज्ञान में, या देवस्थान में, या किसी शिला-खण्ड में, अथवा जलाशय में ?

छन्द—शिवरिणी है ॥ १६ ॥

प्रह्लादः—

पृथ्व्यां पायसि पापके च पवने दिद्वन्तरिक्षे पुनर्  
मार्तण्डे शशिमण्डलेऽस्ति सुतले यश्चेतनेऽचेतने ।  
अस्त्यन्तर्वाहिरस्त्यनन्तविभवो भावेष्वभावेऽपि वा  
सर्वत्रास्ति सदास्ति किं बहुगिरा त्वय्यस्ति मय्यस्ति च ॥ १७ ॥

पृथ्व्यामिति—अनन्तविभवः अनन्तसामर्थ्यः स विष्णुः पृथ्व्याम् अथवा, पायसि जले, पापकेऽमौ, पवने वायी, दिक्षु काष्ठामु, अन्तरिक्षे चावापृथिव्योरन्तरे, मार्तण्डे सूर्यं, शशिमण्डले चन्द्रमसि, सुतले नागलोकप्रभेदे, 'सुतल इति नाग-लोकप्रभेदेऽट्टालिकाग्रधे च' इति शब्दार्थचिन्तामणिः, इत्यादि सर्वेष्वपि स्थानेषु वर्तते । किं च स विष्णुः चेतने प्राणमृति अचेतने जडेऽपि जगति अन्तः सर्व-स्थान्तरागमनि यहिः बाह्यप्रदेशे चास्ति । भावे पदार्थमात्रे स तिष्ठति द्रव्यादि-षट्कमिन्नेऽपि च स वर्तते एव । स सर्वदा सर्वस्मिन् काले सर्वत्र च सर्वत्रिमन्दो-च वर्तते । किं बहुक्तेन म त्वय्यप्यस्ति मय्यप्यस्ति ।

प्रह्लाद —

वह असीम देवत्वसम्पन्न विष्णुत्त्व सर्वत्र सदा विराजमान रहता है । पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, दिशा, आकाश एवं भूलोक के मध्य, सूर्य, चन्द्रमा, नागलोक, चेतन, अचेतन, बाहर, भीतर, भाव, अभाव इत्यादि सभी स्थानों में समा हुआ है । अधिक क्या कहें, वह तुम में और मुझ में भी व्याप्त है ।

छन्द—शार्दूलविभीष्टित ॥ १७ ॥

यदि देहिनोऽपि त्रिणोः सर्वगतत्वं मृषा ब्रूये ।

तदसापति जडबुद्धे सदसः स्तम्भे न दृश्यते कस्मात् ॥१८॥

यदीति—यदि देहिनः देहधारिणोऽपि विष्णोः मृषा मिथ्याभूतं सर्वगतत्वं सर्व-व्यापकत्वं ब्रूये तत् तर्हि अतिजडबुद्धे ? हे मन्दबुद्ध ! असौ हरिः सदसः समायाः स्तम्भे स्तम्भे कस्मात् कुत्र न दृश्यते । अतः तस्य सर्वव्यापकत्वं त्वदुक्तं मृषा मिथ्यैवास्ति । देहधारित्वं सर्वव्यापकत्वं चेत्युभयं विप्रतिविद्धमेतत् 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः', 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते' इत्यादि श्रुत्या तस्य देहप्रतिषेधात् ।

देल्य—

यदि शरीरधारी विष्णु की तुम सर्वव्यापकता समार रहे हो, तो अरे मूर्ख ! यह तो

बता कि वह इस सभा के स्तम्भ में क्यों नहीं दिखाई पड़ता ? और यदि नहीं दिखाई पड़ता तो निश्चय ही तुम्हारी बतलाई हुई सर्वव्यापकता असत्य ही है । और यह विलकुल स्पष्ट है कि जो देहधारी होगा वह सीमित देश में ही रह सकता है; उसकी सर्वव्यापकता कैसी ? यदि मूर्त पदार्थ सर्वव्यापक हो जाय, तब तो समझना यह चाहिए कि उस व्यापक तत्त्व के अतिरिक्त स्थानाभाववश और कोई है ही नहीं ।

छन्दः—आर्या ( उपगीति ) ॥ १८ ॥

प्रह्लादः—

अस्त्येव वस्तुजाते नास्त्यस्मिन् संशयोऽणुमात्रोऽपि ।

यो यत्र स्मरति हरिं स तत्र पश्यत्यवश्यमसुम् ॥ १६ ॥

अस्त्येवेति—स ममाभीष्टो हरिः वस्तुजाते सर्वस्मिन्नपि वस्तुनि अस्ति । अस्मिन् अत्र विषये अणुमात्रोऽपि स्वल्पोऽपि संशयः सन्देहो नास्ति । यः यत्रापि हरिं स्मरति स तत्रैव अवश्यमेव असुं हरिं पश्यति । 'शो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति । तस्याहं न प्रणक्ष्यामि स च मे न प्रणक्ष्यति' इति गीतास्मरणात् ।

प्रह्लाद—

मेरा वह वाञ्छनीय प्रभु सब वस्तुओं में है ही—इसमें अणु—मात्र भी संशय नहीं है । जो जहाँ भी उसका स्मरण करता है वह वहीं उसे देखता है ।

छन्दः—आर्या ॥ १९ ॥

ततः सुररिपुरपि स्फुरितगुरुतरकरालकरकलितकरालकरवालः  
कोपकृशानुकलुषितनयनः शयननिलीनभोगः पदाहतिक्षोभितः भुजङ्ग  
इव कल्पान्तकालकलितकलेवरोऽपरः कृतान्त इव श्रवणकटुपटुतरवहु-  
वचनरचनासंभूतसंरम्भारम्भः स्तम्भं विभेद ।

तत इति—ततः तदनन्तरं स्फुरितः स्पन्दितः गुरुतरः अतिशयगुरूकः करालः भयानकः च यः करः पाणिः तत्र कलितः धारितः करालः भयानकः करवालः असिः येन सः, कोपः क्रोध एव कृशानुः अग्निः तेन कलुषिते रक्ते नयने नेत्रे यस्य सः सुररिपुः दैव्योऽपि शयनेन स्वापेन निलीनः अन्तर्हितः भोगः फणा यस्य सः पदाहत्या पादाघातेन क्षोभित उद्देजितः भुजङ्गः सर्प इव, कल्पान्तकाले प्रलया-  
वस्थायां कलितं धारितं कलेवरं देहो येन स अपरः कृतान्त इव प्रतिकूलतया श्रवण-  
कटुनां श्रोत्रविदारकाणां पटुतराणाम् उपपत्त्या प्रौढानां बहुवचनानां प्रह्लादोक्तवहु-  
वाक्यानां रचनायाः सम्भूत उद्भूतः संरम्भारम्भः क्रोधारम्भो यस्य स एतादृशः  
सन् स्तम्भं स्कम्भं विभेद विदारयामास ।

इति श्रीनिसिंहचम्पूकाव्ये द्वितीयोच्छ्वासः ।

इसके अनन्तर उस सुरारि ने मामने गढे म्त्म्भ को खण्ड खण्ड कर ही डाला जिसने अपनी फड़की हुई विशाल एव क्रूरतर मुनाओं में कराल करवाल धारण कर रक्ता था, जिसकी आँतों से क्रोधाग्नि बरस रही थी । हम अवसर पर उसी, शरीर को समेट कर सोनेवाले उस काले नाग की स्थिति थी, जो लात मार कर जगा दिया गया हो अथवा उम यमराज की मी थी, जो प्रलयकाल में मूर्तिमान् हो उठा हो । वास्तव में हम समय हिरण्यकशिपु को जो क्रोध का इतना तवर्द्धन वेग हो आया था, वह प्रह्लाद को कर्ण कट्ट तथा पिना को निरस्त कर देने वाली युक्तिगर्भ वाक्य-रचना का परिणाम था ।

द्वितीय उच्छ्वास समाप्त

## अथ तृतीयोच्छ्वासः

अथ रसप्रसङ्ग । तत्रादौ भयानक ।

'ते स्यु क्रमादिह भयानकरोद्वीरे'त्यादिना प्रथम उच्छ्वासे सायद् भयानक-दीना सर्वेषां नवविधाना रसाना निरूपणप्रस्तावोऽभिहित । तदनुसारनिदानी मिह तृतीये उच्छ्वासे तान्तिरूपयति । तत्र प्रथम भयानकमाह—

यहाँ से रस-प्रसङ्ग आरम्भ किया जा रहा है । सबसे पहल भयानक रस की ही चर्चा उठाई जा रही है । भयानक का वर्णन कर रहे हैं—

भ्राम्यद्भ्रूभागभीमं सरतरस्वदिराङ्गारघोरायताश्च  
कल्पान्तोद्दामत्रिद्युत्प्रचुररसनया सृक्किणी लेलिहान ।  
स्फारोद्यत्सिंहनादस्फुरितफणिकणाफूत्कृतिप्रस्तशत्रुर्  
दष्ट्रादुर्धर्षवस्त्रो हरिसुरसभास्तम्भ आविर्वभूव ॥ १ ॥

ग्राम्यादिति—भ्राम्यद्भ्रूभागभीमं भ्राम्यश्चासौ भ्रूभाग भ्राम्यद्भ्रूभाग तेन भीमं भयानकं, सरतरस्वदिराङ्गारघोरायताश्च सरतरं नागतरं यच्चदिराङ्गारस्वदिरं यक्रकण्ट 'सदितो यक्रकण्ट' इति कोष । तस्याङ्गारवत् निर्धूमाग्निखण्डवत् । घोरे भयानके दुर्दंश इत्यर्थं, भायते विनाले धीर्घं अक्षिणी लोपने यस्य स । कल्पान्तोद्दामविद्युत्प्रचुरग्मनया कल्पान्ते प्रलये उद्दामा दाम्न उद्गता अति घबरेति यावत् या विद्युत् सौदामिनी तद्भवत् प्रचुरया त्रिपुल्या रसनया जिह्वया सृक्किणी ओष्ठग्रान्तौ लेलिहान स्वदन् । स्फारोद्यत्सिंहनादस्फुरितफणिकणाफूत्कृतिप्रस्तशत्रुर्—स्फारेण विकटन उद्यता उद्गच्छता सिंहनादन पद्मास्यगर्जनेन शत्रुनिदानां कम्पितानां इति शत्रुनां क्षेपस्पर्शसहसस्य या फूत्कृतयस्ताभिः शत्रोर्भीति

शत्रुहिरण्यकशिपुसंज्ञो यस्य स तथा । दंष्ट्रादुर्धर्षवक्त्रः दंष्ट्राभिः दन्तैः दुर्धर्ष दुरा-  
लम्भं वक्त्रं मुखं यस्य सः । हरिः विष्णुः असुराणां सभायाः परिपदः दैत्यगोष्ठी-  
भवनस्येत्यर्थः । स्तम्भे स्कम्भे आविर्भवून् प्रादुरासीत् । तत्र ददृशे इत्यर्थः । 'स्फारो  
विपुले विकटे' इति शब्दार्थचिन्तामणिः । 'अङ्गारो निर्धुमाग्निपिण्डे' इति च ।  
सर्वत्र हरिरस्ति इति प्रागुक्तप्रह्लादप्रतिज्ञामुपश्रुत्य 'सदसः स्तम्भे न दृश्यते  
कस्मात्' इति हिरण्यकशिपुकृताक्षेपपरिहाराय स्तम्भादेवाविर्भूतो हरिः सर्वैर्द-  
द्ये इति भावः ।

[ फिर क्या, खम्भ के फटते ही, शीघ्र ही ] वह हरि सुरारि के सभा-स्तम्भ को  
विदीर्ण करता बाहर निकल आया, जो वक्राकार धूमती हुई भौंहों के कारण अत्यन्त  
भयानक जान पड़ रहा था, जिसकी विशाल आँखें जोरदार लहकते हुए खदिर के अङ्गारे  
की सी दहक रही थीं, जो प्रलयकालीन चञ्चल एवं कराल विद्युत् की भाँति लपलपाती  
हुई जिह्वा से गलफड़ों को चाट रहा था, जिसने अपने विकराल सिंहनाद से शेषनाग को  
भी ऐसा धरा दिया कि वह भी भय के वश भीषण फूत्कार करने लगा । फूत्कार भी वह  
ऐसी थी, जिससे हिरण्यकशिपु त्रस्त होता जा रहा था; इतना ही नहीं दाँतों को देरते  
हुए उसका वक्त्र अत्यन्त-दुर्धर्ष जान पड़ रहा था ॥

- छन्दः--स्रग्धरा SSS SIS SII III ISSI SS ISS ॥ १ ॥

अपि च—

उद्यद्वैकुण्ठकण्ठीरवकठिनतराखण्डचण्डाट्टहासं

त्रासादासाद्य सद्यो गलितनिगडितं धावदैरावतस्य ।

दानाम्भो दैवमम्भो दशनरुचिरथोद्दामसौदामिनीयं

ग्रीष्मोऽप्याडम्बरं यन्नभसि तदभवद् गर्जितस्योर्जितं च ॥ २ ॥

उद्यदिति—हरेः दैत्यगोष्ठीभवनस्तम्भाविर्भावानन्तरं कस्य किं वृत्तमभव-  
दिति कतिपयैः पद्यैस्तदेव दर्शयति । उद्यत उद्गच्छतः, सभास्तम्भे दृश्यमानस्ये-  
त्यर्थः, वैकुण्ठकण्ठीरवस्य वैकुण्ठः विष्णुः स एव कण्ठीरवः पञ्चास्यः तस्य नृसिंह-  
रूपस्य विष्णोः कठिनतरः क्रूरतरः अखण्डः निरन्तरः चण्डः प्रचण्डः य अट्टहासः  
महाहासः तमासाद्य प्राप्य श्रुत्वेति यावत् । त्रासात्सद्यः सपदि गलितं भयजनित-  
कार्येण स्वयमेव निवृत्तं निगडितं बन्धनं यस्मिन्कर्मणि तत् इति धावनक्रिया-  
विशेषणम् । निगडितमिति निगडयतेः करणार्थं नामधातोर्भावे क्तः । धावदैराव-  
तस्य धावंश्चासौ ऐरावतः इति तस्य अभिधावतः ऐरावतस्य सुरकुञ्जरस्य यद् दा-  
नद्वरणमभूत् तदेव भूयस्त्वात् पर्जन्यवर्षणमभवत् । अथ किं च तस्यैरावतस्य दश-  
नरुचिः दन्तकान्तिः उद्दामा प्रचण्डा चासौ सौदामिनी विद्युत् अभवत् । ग्रीष्मे  
निदावर्तावपि नभसि अन्तरिक्षे यदाऽम्बरे वनरवोऽभवत् तत्तु गर्जितस्य ऐरावत-

चीत्कारस्य उर्जितं धृद्धिरेवामृदिति तात्पर्यम् । 'विद्युत् सौदामिनी तडित्' इति कोप । आद्यम्बरम् घनगर्जितम् । 'दृपं द्रपं तूपस्वने भारम्भे घनगर्जिते आद्यम्बरम्' इति शब्दस्तोममहानिधिः । 'गर्जितं वारिवाहादिष्वनी भामत्कुञ्जरे' इति मेदिनी ।

गरभे को फाड़कर निकलने हुए उम धिगु-मिह के क्रूर एवं कराल भट्टहास को चुनकर स्वर्गस्य देतावन ब्रह्म ही उठा और इमीलिय शीघ्र ही सीकट सिसका कर भाग चला । भागते समय उस ग्रीभवाला में भा जो धारा-प्रवाह मदधारा बरस चली, वह वर्षाकालीन वृष्टि-सी जान पड़ी । वमी वमी जो उसके दौनों की चमक होनी, सो प्रथम बिजली की सी लगने लगी और उम समय गगन में जो भेषनाद सुनाई पड़ता वह अमल में देरावन के गर्जित का ही एक ओमस्त्री रूप था ॥

छन्द— ५५५ ५६ ५७ ॥ १५५ १५६ १५७ स्रग्धरा ॥ २ ॥

आटोपोत्कटकोटिदुर्घटसटासंधट्टसंस्फोटित-

ब्रह्माण्डोदररन्ध्रतामुपगतस्वारागणोऽयं हरेः ।

नो चेदावरणोदकं यदमितं मेघच्छलादुच्छलद्-

धारासारसमुच्चयैरतितरां केनाध्वना षर्पति ॥ ३ ॥

आटोपेति—यथा अण्डभेदानन्तरं तत्स्थं जलं छिद्रतः प्रस्रवति तद्वद्वेदं ब्रह्माण्डमपि हरेराविर्भावसमये तत्सटामहदाद् भिन्नं तारागणरूपच्छिद्रतो मेघच्छलाद् षर्पतीति निरूपयति । 'हरेः नृसिंहस्य इदं सटामहदान्वयि कर्तृताया आटोपेन संरम्भेण इदमपि सटामहदान्वयि हेतुताया । उत्कटकोटिः तीव्रतरः दुर्घटश्च लोककसिंहैरसुकरः यः सटानां सद्दृष्टं सद्दृषणं तेन संस्फोटितं भिन्नं यद् ब्रह्माण्डं तस्य उदररन्ध्रतां मध्यच्छिद्रतामुपगतः प्रासः अयं तारागणः नक्षत्रावलिः सर्वैस्माभिर्हरयते इत्यर्थः । अर्थात् हरिणा यदा क्रुद्धेन स्वसटा एतां तद्वेदं ब्रह्माण्डं भिन्नं ब्रह्माण्डभेदेनैव च इदं तारागणरूपं छिद्रं समजनि । तेभ्य एव छिद्रेभ्योऽण्डजलं मेघव्याजादुच्छलति । यद्येवमिदं ब्रह्माण्डं नैत्राभेदस्यत् तर्हि मेघच्छलाद् पञ्चन्यव्याजेन धारासारसमुच्चयैः राशिभिः तत्पूरकमिन्यर्थः । उच्छलत् उद्गमद्भ्रव् अतितरामत्पर्यम् इदमावरणोदकमण्डाच्छादनजलं केनाध्वना केन यन्मना षर्पति ब्रह्माण्डमिति कर्तृपद प्रत्यामत्तिलभ्यम् । नावपिप्यदित्यर्थः ।

यदि ये तारागण नृसिंह के आवेशवश विकारों अमालों के तीव्रतर एवं असाधारण संघर्ष से छिद्र ब्रह्माण्ड के छिद्र रूप में अचलीर्ग न हुए होते, तो मेघ के व्याज से धारासम्पानपूर्वक निकलती हुई अपरिमित एवं ब्रह्माण्ड को आच्छन्न करनेवाली यह अन्तर्निहित जन्मराशि कैसे बाहर निकल पाती ?

यहाँ कल्पना यह है कि जिस प्रकार अण्ड के भेदन से उसका अन्तर्निहित जल छिद्रों

द्वारा बाहर निकल जाता है, उसी प्रकार नृसिंह की सट के संवर्षसे यदि यह ब्रह्माण्डरूप अण्ड छिन्न-भिन्न न हुआ होता, और ये तारागणरूपी छिद्र न हुए होते तो ब्रह्माण्ड का अन्तवर्ती जल आज बाहर किस रास्ते निकलता ?

छन्दः—SSS IIS ISI IIS SSI SSI IS शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ३ ॥

चण्डाडम्बरभृङ्गमड्गुमरुकध्वानावधानाकुला

क्षुभ्यद्भीषणभूरिभैरवरवैरुद्भीपिता द्यौरपि ।

खेलत्खेचरयोगिनी कलकलद्वेतालकोलाहलैः

स्वं गर्भं विससर्ज तर्जितमतिस्ताराप्रपातच्छलात् ॥ ४ ॥

हेराविभावे सति हिरण्यकशिपुनिधनसूचकं ताराप्रपातरूपस्रत्पातं वर्णयति—  
चण्डेति—चण्डं प्रचण्डम् आडम्बरं विस्तारं विभर्तीति चण्डाडम्बरभृत् । इदं ध्वानं-  
विशेषणम् । स च डमडित्याख्यो डमरुकध्वानः । डमरुकं वाद्यविशेषः । तस्य ध्वानेन  
शब्देन आकुला व्याकुला उद्विग्ना इत्यर्थः । क्षुभ्यन्तो ये भीषणाः भयानकाकाराः  
भूरयः प्रचुरा भैरवाः शङ्करावतारभेदाः तेषां रवैः शब्दैः उद्गीपिता उद्वेजिताः,  
खेलन्त्यः क्रीडन्त्य खेचर्यः ( खे आकाशे चरन्तीति ) योगिन्यः तासां तथा कल-  
कलन्तः कलमव्यक्त शब्दं कलन्तः कुर्वन्तः ये वेतालाः शिवानुचराः तेषां कोला-  
हलैरतजिता मतिः यस्याः सा द्यौरपि द्युलोकोऽपि ताराप्रपातच्छलात् नक्षत्रनि-  
पातव्याजेन स्वं गर्भं विसर्ज मुमोच किमुत वाच्यं दैत्यस्त्रियः स्वं गर्भं विससर्जु-  
रिति भावः ।

नृसिंहावतार के अनन्तर हिरण्यकशिपु वी मृत्यु के सूचक चिह्न का वर्णन करते हुए कहते हैं—

नृसिंह-गर्जन के परिणामस्वरूप गगन से तारागण टूट टूट कर धरा पर आने लगे । उन्हें देख (कवि बो) ऐसी कल्पना सूझती है कि मानों ये तारागण स्वर्गरूपी नायिका के गर्भ हों, जो भीषण रव-श्रवण के फलस्वरूप नीचे गिर पड़े हों । यह गगनरूपी नायिका डमरु के प्रचण्ड एवं व्यापक डमरु-डमरु-शब्द को सुन कर व्याकुल हो गई; उसका मैं अनेक भयंकर एवं विक्षुब्ध भैरववाद्य के निनाद से पूर्णतः भीत हो उठी, आकाश में क्रीटा-परावण योगिनियों एवं कलकल करने वाले वेतालों के कोलाहल से उसकी बुद्धि अपने आपे में न रह गई । गर्भपात का कारण उस गगन-नायिका वी यहाँ स्थिति थी ।

अलंकारः—कौनवापहृति ।

छन्दः—SSS IIS ISI IIS ISS SSI IS शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ४ ॥

अपि च—

यल्लोलकालकरवालकरालजिह्वा-

प्रोद्भूतभीतिभरमंगुरभावेनेन ।



अद्यापि त्रिगुद्रपि मेचकमेघमालाम्

ईषत्प्रदर्शिततनु पुनराविरान्ती ॥ ५ ॥

यदिति । यन्म्य नृसिंहम्य, काल यम इव कालस्येति वा, करवाल अस्ति तद्वत्कराला भीषणा जिह्वा इति कालकरवालकरालजिह्वा, लोला चपला चासौ कालकरवालकरालजिह्वा, तस्या प्रोद्भूत उपन्नो यो भीति-भर भीत्यतिशय तेन यद् भगुरभावन मेघे निलयनार्थं ध्रुवतया स्वशरीरसकोचन तेन, दृश्यन्ते हि लोके स्वल्पे आश्रये भयान्निर्लीयमाना ध्रुवतया स्वशरीर सकोचयन्त्य । अद्यापि अधुनापि ईषत्स्वरूप प्रदर्शिता उद्भासिता तनु स्वरूप यया सा विद्युत् तद्विद्युत्पि पुन मेचकमेघमालां कृष्णजलदपङ्क्तिम् आविरान्ती प्रविशन्ती अस्मा भिरंश्यते इति शेष । 'मेचकस्तु मयूरस्य चन्द्रकेरयामले पुमान्' इति मेदिनी । 'कालो मृतौ महाकाले समये यमकृष्णयो' इति च ।

काल के कराल करवाल की भीति जिनकी रूपपाती हुई जिह्वा को [ देख कर ] विद्युत् की हम प्रकार भय वा अतिरेक हो उठा कि आज भी वह [ पूर्ण रूप से देर तक बाहर नहीं रह पाती और ] अपना हल ही सा हाथक दिखाकर अपने [ आश्रय स्वरूप ] कृष्ण जलदपङ्क्ति में शरीर-सकोच-पूर्वक चन्द्र प्रवेश करती जाती है—सारा सारा इसे देखता है ।

छन्द —ऽऽ। ञ।।।।।ऽऽ वसन्ततिलका ॥ ५ ॥

तदनु दनु नराजप्रचुरतरकवालनिर्दुरघातसभेदोद्भूतस्फुरत्तट-  
टारावर्जितनिर्नरनिकानरकिन्नरासुचमूसमूहाद् उदयशिक्षरिशिररा-  
खराशुरिव उज्ज्वलतनु, अरणिमयनादभिरिव तीव्रतर, रम्भास्तम्भान्  
कर्पूर इव कमनीय सुरद्वेषिवेरमनि सुरशिमकारमीररमनिर्मितस-  
भास्तम्भगर्भान्तरहरिरापिसीत् । तत प्रलयकालजलदपटलगर्जित-  
विस्फूर्जितमिव भयकर, भूरिभेरीककार इव गर्भोरतर, भयभरभगुर-  
भुजगराजविलोमलीलिस्थलान्दोलितभूमण्डलोच्छललोलजलकल्लोलच्छ-  
लाञ्जलनिधि पुलकयन्निव चिरतरयागनिद्रामुद्रितनयन जलशयनमक्स्मा-  
ज्वागरयन्निव कम्पितकैलामकेलिविलासिनः पुरहरस्य सहारभ्रममुत्पाद-  
यन्निव नृसिंहपिहितसिंहनादोऽप्यत्यएड्रह्माएडोदरमाभूरयाचत्रे ।

तद्वचनि—तदनु तदन्तर सुरद्वेषिवेरमनि हिरण्यकान्तपोयूहे सुरशिमकारमी-  
ररमनिर्मितसभास्तम्भगमात्, सुरशिमभि सुलविभि कारमारारमभि कारमीर  
दुनोद्भवै पापाणै निर्मितस्य रचिनस्य रम्भास्तम्भस्य गोष्ठीभवनस्तम्भस्य  
गर्भात् मण्यात् नरहरि धीनृसिंह आविरामोत् प्रादुर्भव । कीदृशास्तम्भादि

त्याह—दनुजेति । दनुजराजस्य हिरण्यकशिपोः प्रचुरतरा अतिवहुला ये कर-  
वालस्यासेः निष्पुराघाताः प्रहाराः तेषां यः संभेदः स्तम्भे संबन्धः तस्माद्दुद्भूतः  
उत्पन्नः स्फुरन् च चलन् देशान्तरे व्याप्नुवन्निति यावत् । यः तदतटारावः तट-  
तटाशब्दः तेन तर्जिताः भस्मिताः निर्जराणां देवानां निकराः समूहाः नराणां  
मर्त्यानां किन्नराणां देवयोनिविशेषाणाम् असुरचमूनां राक्षसानीकिनां च समूहाः  
शृन्दानि येन तस्मात् । कस्मात् क इव कीदृशश्च नरसिंहः—उदयशिखरिशिखरात्  
उदयाचलशृङ्गात् खरांशुः सूर्य इव उज्ज्वलतनुः तेजस्विशरीरः अरणेः काष्ठ-  
निर्मितस्य अग्निसाधनयन्त्रस्य मथनात् संघर्षणात् अग्निः वह्निरिव तीव्रतरः  
प्रचण्डतरः । रम्भास्तम्भ इवेत्युपमितसमासः । तस्मात् कर्पूर इव घनसार इव कस-  
नीयः कान्तियुक्तः सुन्दरः । अरणिः ऋच्छति प्रापयत्यग्निमिति काष्ठनिर्मितस्या-  
ग्निसाधनयन्त्रस्य नामधेयम् ।

ततः—आविर्भावानन्तरं नृसिंहविहितसिंहनादः नृसिंहेन त्रिण्णोरवतारेण नर-  
हरिणा विहितः कृतः सिंहनादः सिंहगर्जनमपि ब्रह्माण्डोदरं सर्वं ब्रह्माण्डमण्डल-  
मापूरयाचक्रे अपूरयत् । क इव कीदृशः किं कुर्वन्नित्याह—प्रलयेति । प्रलय-  
कालस्य जलदपटलस्य मेघवृन्दस्य गर्जितं ध्वान इव विस्फूर्जितं वज्रनिर्घोष इव  
च भयंकरः भीषणः । गर्जितान्तविस्फूर्जितयोः समाहारद्वन्द्वः । भूरीणां प्रभूतानां  
मेरीणां बृहदडकानां भांकार इव गभीरतरः गंभीरतरः । भांकार इति दक्काशब्दानु-  
कृतिः । भयभरेति—भयभरेण भयातिशयेन भंगुराणि भज्यमानानि संकुचन्ति  
इति यावत् । यानि भुजगराजस्य विलोलानि मौलिस्थलानि फणासहस्रं तैः  
जान्दोलितं चालितं यत् भ्रूमण्डलमवनिमण्डलं तस्मादुच्छ्रलत् निर्गच्छत् यत् लोलं  
चलं जलं सलिलं तस्य कललोलानां तरंगाणां छलात् व्याजात् जलनिधिं सागरं  
पुलकयन् इव रोमाञ्चयन्नित्थं, पुलकिनं करोतीति विग्रहे ण्यन्तात् शता । चिर-  
तरेण अतिचिरेण योगनिद्रया सुद्रिते निमीलिते नयने नेत्रे येन तं जलशयन-  
मनन्तम् ( हरिं ) अकस्मात् अतर्कितमित्यर्थः । जागरयन्नित्थं निद्राक्षयं प्रापयन्नित्थं ।

कम्पिते सिंहनादेनेति शेषः, कैलासे या केलिः सा कम्पितकैलासकेलिः ।  
तस्याः विलासिनः विलसनशीलस्य पुरहरस्य त्रिपुरान्तकस्य हरस्य संहारभ्रमं  
प्रलयकालप्राप्तिसंदेहम् उत्पादयन्नित्थं जनयन्नित्थं । अस्मिन्प्रकरणे प्रकृतावस्थो  
भगवान् नरहरिर्भयानकरसस्यालम्बनविभावः, तदीया भ्रूजिह्वाचेष्टासटाब्रह्माण्ड-  
मेघनसिंहनादादयः उद्दीपनविभावाः, त्रस्तभुजगराजैरावतद्युविद्युत्सुरासुरज-  
गतोऽत्र वर्णितास्तास्ताश्चेष्टा अनुभावास्तैरभिव्यक्तं जगतो भयं स्थायिभावोऽत्र रस-  
रूपतया आस्वाद्यते । संचारिभावास्तु सम्भविन् आश्चर्यजाड्यमूर्छादयोऽनुक्ता  
अपि उक्तैर्विभावादिभिराक्षिप्यन्ते इत्यवधेयम् ।

इसके पश्चात् उस सुरारि के गृह में देदीप्यमान काश्मीरी शिलाओं से बने हुए

सभा-सम्भ से नरहरि प्रकट ही गए । यह वही सम्भ था, जिस पर दनुरा  
हिरण्यकशिपु ने अपना तलवार से प्रचुर एवं क्रूर वार किया था और इस वार से ही  
वाले विदारण के परिणाम-स्वरूप जो तड़-तड़ की ध्वनि हुई, उससे सारे देव-गण, मनुष्य  
वि-नर, एवं असुरों की सेना व्रतन ही उठी । उस सम्भ से प्रकट होते हुए नरहरि वं  
शोभा उदयाचल से उदित होते हुए वातिमान् शरीर वाले मानु की सी हुई, अथवा  
अराज-मयन से समुद्रत प्रचण्डतर अग्नि-ज्वाला की सी हुई, अथवा केले के सम्भ  
अनित वननाथ वधूर-राशि सी हुई ।

फिर तो नृसिंह जे नाद ने भी अरुण्ड ब्रह्माण्ड के मध्यवर्ती भाग को परिपूर्ण के  
शिया—अर्थात् सारा गगन घहरा दिया । प्रतीत हुआ जैसे कि वह नाद प्रत्यकालीन मे  
राशि का गर्जन ही हो, अथवा वज्र का निर्घोष हो । इतना भयकर था वह नाद  
इतना गभीरतर वह नाद था, जैसे अनेक भेरी बाघों का मिलित घोष हो । [ इस नाद क  
सुनकर ] भयातिरेकवश मजुचित होते हुए शेषभाग का पणामण्डल वम्पित हो गए  
और फिर तो उसा के सहारे पिकी हुई सारी पृथ्वी झूल उठी । पृथ्वी के झूलने का पल द  
हुना कि समुद्र की लोल-जलमयी तरङ्गें उछल पडी । उछलती हुई तरङ्गों की देख क  
यह सम्भावना होने लगी मानों ये तरङ्गें समुद्र की पुष्पावली हों, जो भय के कार  
मास्थिक भाव के रूप में बाहर निकल पडी हों । एसा प्रतीत हुआ मानों यह नाद फिर  
वाल् से योगनिद्रावश निमीलित नेत्रों वाले शीरशायी भगवान् को अकस्मात् झ  
रहा हो अथवा ऐसा जान पडा कि नाद-कथित कैलास में शोभा-परायण त्रिपुरारि क  
प्रत्येकाल के आत्मन की आग्नि उत्पन्न कर रहा हो ।

अथ वीररस—

तत स्तम्भोद्भूताद्भुततमशरीर नरहरिम्  
पुन सात्पाद्वीच्यामृतभरणहेतुर्विधिवशात् ।

स्फुरद्गर्वात्स्पर्षाद् दिवि त्रिपिपदासादितगदो

गदामादायोच्चरेवददमरारातिरचिरात् ॥ ६ ॥

तत इति—तत तदनन्तर विधिवशात् देववशात् । 'विधिर्विधाने देवे च  
हृत्यमर । दिवि दिविपदासादितगद दिवि स्वर्ग आसादित सव्यादित दिविप  
देवसु गदो भयननितञ्जरादिरूपो रोगो [यन स' । अमराराति' सुरारि  
हिरण्यकशिपु स्तम्भोद्भूताद्भुततमशरीर स्तम्भादुद्भूतम् उत्पद्यम् अद्भुतत  
शरीर करेपर यस्य त नरहरि नृसिंह साक्षात् प्रत्यक्षमय वीक्ष्य हृष्टा अवदत् ।

स्फुरद्गर्वात्स्पर्षात् स्फुरन् प्रादुर्भयन् यो गर्व शौर्याभिमानस्तस्योत्कर्षा  
उद्रेकात्, अचिरात् तत्कालमेव गदामादाय हरिनिर्घासया गदामुद्यम्य उत्प  
वाग्स्वरेण पुन अवदत् धवोचत् । पूर्ण प्रत्याद प्रापुण्यस्य दृढनीं च नृहरिं प्रती

पुनः शब्दप्रयोगः । 'गदो भ्रातरि विष्णोः स्यादामये नाऽऽयुधे गदा' इति मेदिनी । अमृतमरणहेतुरिति अमृतमेव श्रीविष्णुदर्शनमेव मरणस्य हेतुर्यस्य । श्रीविष्णुदर्शनं प्राप्य सर्वोऽपि अमृतो भवति । 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' इत्यादिश्रुतेः । अत्र तु विष्णुना स हतः सन्नमृतेति तद्विपरीतमेव जातम् ।

वीररसः—

इसके पश्चात्, अदृष्टवश स्वर्ग में देवताओं को भी भीति-ज्वर उत्पन्न करने वाले उस सुरारि ने जब स्तम्भ से प्रकट अत्यन्त आश्चर्यजनक शरीर वाले नरहरि को प्रत्यक्ष देखा तब उसका अभिमान जाग उठा और उसी गर्वोद्रेक में शीघ्र ही अपनी गदा तान कर गरजते हुए स्वर में उसने कहा—[प्रस्तुत श्लोक में हिरण्यकशिपु का विशेषण बहुत ही सारगर्भ है, अतः उसकी व्याख्या स्वारस्य के उद्घाटनार्थ अलग से लिखी जा रही है ] । हिरण्यकशिपु अमृत मरणहेतु था । अर्थात् यहाँ अमृत ही उसकी मृत्यु का कारण बना । भगवान् विष्णु स्वयं अमृत स्वरूप हैं । [ अथवा उनको प्राप्त कर के लोग अमृत हो जाते हैं—इसलिये औपचारिक रूप में 'आयुर्धृतम्' इत्यादि की भौति भगवान् को अमृत कहा जा सकता है । ] अस्तु । कहने का अभिप्राय यह कि जिसे प्राप्त कर के अन्य लोग अमृत हो जाते हैं, उसे ही प्राप्त कर के यह मृत हो गया ।

छन्दः—ISS SSS III SII IS शिखरिणी ॥ ६ ॥

ततः सोत्साहं हरिरपि—

किं नासन् भ्रातृपूर्वास्तव दनुज पुरा ये पुरारेरशक्यास्  
तेषां दोर्दण्डकण्डूर्न किमु शममिता मत्प्रतापानलेन ।

तत्र त्वं भोः कियान् वा कथय कथमथ प्राणनं तेऽतिगर्व  
सर्वं सर्वं सभायां प्रथयसि भुजयोः किं मृषा भापणेन ॥ ७ ॥

किं नासन्निति—हे दनुज ! हे दानव पुरा प्राक्काले ये पुरारेः शिवस्यापि अशक्याः धर्षयितुमशक्या इति यावत् । तव भ्रातृपूर्वाः तव भ्राता हिरण्याक्षः पूर्वः आदिर्येषां ते तथा । हिरण्याक्षादय इति यावत् । न आसन् ? आसन्नेवेत्यर्थः । किं तेषां हिरण्याक्षादिदैत्यानां दोर्दण्डकण्डूः भुजदण्डकण्डूचनं मम प्रतापवह्निना न शमं शान्तिमिता प्राप्ता । अर्थात् किं त्वमेतत्सर्वं नाभिजानासि यत् त्वत्तोपि अधिकवीर्यशालिनः पूर्वमपि नैकधा समभूवन् तेषां च कण्डूशमनार्थं तत्तत्काले मयैव मर्त्यलोके अचतीर्णम् । तत्र तेषां मध्ये भोः त्वं कथय कियान् वा कियाने-वासि तव का ह्यमता । अथ यदि त्वं तेभ्योऽपि वली तदेति शेषः । ते तव अति-गर्वं यथा स्यात्तथा कथं सर्वं परिपूर्णं प्राणनं जीवनं वर्तते । यदि त्वं तेभ्योऽपि चली स्यास्तदा पूर्वमेव हतः स्या इति न तव सर्वं जीवनं स्यादिति भावः । सभायाम् अस्यां संसदि भुजयोः स्ववाहोः सर्वं सकलं वीर्यादिकं प्रथयसि विस्तारयसि

उद्धोषयामि एतेन मृषा मिथ्याभाषणेन किम् ? न किञ्चित् प्रयोजनं साधयितुं शक्यमिति भाव ।

दैत्यः—

किं भीषणेन वपुषा किमु गर्जितेन  
 कि वल्गितेन किमनेन विभेति वीरः ।  
 किं श्वापदानि न वसन्ति गिरेर्दरीषु  
 कि तैर्गिरिर्गुरुभयं समुपैति सिंह ॥ ८ ॥

किमिति—हे सिंह ? हे नृसिंह ? अनेन ते भीषणेन भयजनकेन वपुषा दंहेन किम् ? न किञ्चित्साध्यमित्यर्थः । एतेन ते गर्जितेन किम् ? अनेन ते वल्गितेन बहुभाषितेन कि, मादृशो वीरः अनेन सर्वेण प्रागुक्तेन विभेति किं नेत्यर्थः । कि गिरेः पर्वतस्य दरीषु गुहासु श्वापदानि हिरण्यशुद्धो व्याघ्रा वा न धमन्ति ? वसन्त्येवेत्यर्थः । तथापि किं तैः, गिरिदरीमाधितैः श्वापदैः न किञ्चित्साध्यमित्यर्थः । एतद्देवोपपादयति—गिरिर्गुरुभयं समुपैति । इदं काकुवाक्यम् । ततश्च तेभ्योऽपि गिरिः गुरुभयं न समुपैतीत्यर्थो लभ्यते ।

दत्त ने कहा—

यह क्या भीषण आकार दिखा रहे हो ? इस तुम्हारे गर्जन से क्या होना है ? तुम्हारी यह बज्जवाद निरर्थक है ? हे सिंह ! क्या मेरे जैसा वीर इन सब आटम्वर्गों से डर जायगा ? पर्वत की गुहाओं में क्या बड़े-बड़े हिरण्य जन्तु निवास नहीं करते ? तो पर्वत उनसे डर जाता है क्या ?

छन्दः—ऽऽऽ ऽऽऽ ऽऽ ॥ ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ ॥ ७ ॥

मदनन्तर उत्साह में झूमते हुए उम दानव को हरि ने भी कहा—

हे दानव ! महाकाल शिव भी जिनका कुद न बिगाड पाये थे, उन हिरण्याश्रु जैसे महादानवों से अतीत मूना है ? क्या उनकी भुजाओं की सुन्दर मर्ग प्रदापाग्नि से नहीं झुन्म दा गरें ? तो जब वैसे वैसे दानवों का सर्वनाश हो गया, तो उनके बीच तुम्हारा क्या गगना है ? बोलो ! यह तुम्हारा जीवन फिर इतना गर्वमय क्यों हो रहा है ? अपनी भुजा का बल सभा में [ क्या ] बयां रहे हो ? इस व्यर्थ बज्जवाद से क्या होना जाना है ?

छन्दः—ऽऽऽ ऽऽ २ १ १२ १३ वसन्ततिलका ॥ ८ ॥

अपि च—

युद्धमत्पद्मस्य ते दण्ड्य परिणमति सभास्तन्ममभेदहेतोः

दोषोयं लोकशोकप्रथितमय चलं बालघातैकगम्यम् ।

रे ! स्यात्मानं निजानन्तपि वहमि मया यत्कृतान्तेन साधं

स्पर्धां तस्मात्स्यदन्त्यो ननु दनुजकुले नास्ति विद्वानशूः ॥६॥

युष्मदिति—किं च हे दानव ? युष्माकं त्वद्वर्ग्याणां खड्गस्य असेः तैष्यं निशितत्वं सभास्तम्भसम्भेदायैव परिणमति फलति । अत्र सम्यग्भेदनं सम्भेद इति योगार्थो निवर्तितो न तु सम्भेदो मेलनम् । त्वद्विधानामसुराणाम् आयुधानि केवलं सभास्तम्भाद्येव भेत्तुमर्हन्ति, युष्माकं दोष्णां भुजानां वीर्यं पराक्रमः लोक-शोकप्रथितं लोकानाम् अनागसां मर्त्यानां शोकाय शोकनिमित्तं प्रथितं ख्यातम-स्ति । अथ अथ च युष्माकं शारीरं बलं बालघातेन एकेन एकया बालहृत्यया एव गम्यं विज्ञेयं वर्तते । असमर्था एव बालेभ्योऽपि विभीय तद्धृत्यां कुर्वते इति भावः । रे नीच ? स्वात्मानं स्वसामर्थ्यमित्यर्थः । विजानन्नपि विदन्नपि त्वं यत् यस्मात् मया कृतान्तेन यमेन सार्धं सह स्पर्धां सङ्घर्षं वहसि तस्मात् ततः कारणात् मन्ये दनुजकुले दानवान्ववाये त्वदन्यः त्वद्वते करिचदपि विज्ञानशूरः ज्ञानपण्डितः नास्ति इत्युपहासः ।

और भी—

हे दानव ! तुम्हारे वर्ग वालों की खड्गशक्ति का अवसान सभास्तम्भ के विदारण में होता है । अर्थात् तुम लोगों की शक्ति इतना ही कर सकती है । तुम लोगों की शक्ति की प्रसिद्धि इत्नी बात में है, कि वह निरपराधों को शोक-व्यथा-उत्पन्न करती है । एक बालक की हत्या से ही तुम लोगों के बल का पता चल जाता है । तुम्हारे पास इतनी ही शक्ति है कि एक बालक की हत्या कर सको । सारांश यह कि बालक से भी डरते हो, नभी तो शक्ति होकर उसे मारना चाहते हो । इस प्रकार अपने आप को अच्छी तरह समझते हुए भी जो मेरे जैसे महाकाल से स्पर्धा कर रहे हो, तो इससे व्यक्त है कि इस दानवकुल में तुमसे बड़कर कोई पण्डित नहीं हुआ ?

छन्दः—SSS SIS SII III ISS ISS ISS स्रग्धरा ॥ ९ ॥

हरेरुदारां गिरमाकलय्य रूपं च तस्योग्रतरं निरीक्ष्य ।

गदां विसृज्याथ सुरारिवर्यः कृपाणपाणिः पुनराजगाम ॥ १० ॥

हरेरिति—ततः सुरारिवर्यः हिरण्यकशिपुः हरेः विष्णोः उदारामर्थमहर्तां गिरं वाणीमाकलय्य श्रुत्वा तस्य उग्रतरमतिभयावहं रूपं च निरीक्ष्य वीक्ष्य अथानन्तरं गदां विसृज्य त्यक्त्या कृपाणपाणिः कृपाणः पाणौ यस्य स सन् पुनराजगाम हरेरग्रे युद्धार्थमागमत् । 'उदारो दातृमहतोः' इत्यमरः । 'प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ भवतः' इति पाणिशब्दस्य परनिपातः ।

इसके बाद वह दानवराज भगवान् की इस अर्थगर्भ वाणी को सुन कर और उनके भयंकर रूप को देख कर गदा को एक तरफ रख तलवार हाथ में ले युद्ध के लिए संसुख आ डटा ।

छन्दः—ISA SSI ISI SS उपेन्द्रवज्रा ॥ १० ॥

युद्धाटोपचपेटपाटिततनुं युट्थत्किरीटस्फुटद्-

रत्नाकीर्णरणाङ्गणे निपतितं मूर्च्छाभ्रमल्लोचनम् ।

हुंकारस्फुरिताधरं श्लथकरं केशप्रहारकर्पणाद्

दैत्यं जानुयुगे दधार नृहरिः सर्पं गरुटमानिव ॥ ११ ॥

युद्धेति—अथ नृहरिः गरुटमान् गरुडः सर्पमिव युद्धाटोपेन संग्राममरम्भेण यत्रपेटस्तेन विस्तृताङ्गुलिकेन हस्तेन (चपेटा इति भाषायाम्) पाटिता लोष्टेन फलमिव विदारिता तनु शरीर यस्य तम् । 'स्त्रियां मूर्तिस्तुनुस्तनु' इत्यमरः । 'चपेटो विस्तृताङ्गुलिके हस्ते पुसलेऽपि च' इति शब्दस्नोममहानिधिः । युट्थदिति—युट्थत. द्विघात् किरीटात् सुकुटात् स्फुटद्भिः पतङ्गी रत्ने आकीर्णं श्याप्ते रणाङ्गणे निपतितं मूर्च्छया मोहन भ्रमन्ती अनवस्थिते लोचने नेत्रे यस्य तम्, हुंकारेण स्फुरितोऽधरोष्ठो यस्य तम्, श्लथौ शिथिली करौ पाणौ यस्य तं दैत्यं दानवं हिरण्यकशिपु केशप्रहारकर्पणात् केशेषु गृहीत्वा आकर्पणेनेत्यर्थः । जानुयुगे उभयोर्जान्वोर्मध्ये दधार धारयामास ।

जिस प्रकार गरुड सर्प को मारकर अपने चंगुल में कर लेता है, उसी प्रकार भगवान् नृसिंह ने भी उम हिरण्यकशिपु को बाल पकड़कर पसीट लिया और अपनी दोनों जानुओं के बीच धर दबाया, जो पहले से ही चूर-चूर किरीट से विकीर्ण होते हुए रत्नमय रणभ्रातृग में मारकर गिरा दिया था, संग्राम के आवेश में चपेटों से जिसका शरीर फाड़ दिया गया था, मूर्च्छा के उद्वेग से जिमकी आँखें नाच रही थीं, हुंकार मुख से बाहर नहीं निकलता था, अतः उसकी अभिव्यक्ति के लिए जिसके अधरोष्ठ अनौ पटक ही रहे थे और जिमकी मुत्रार्थ शिथिल पद गई थी ।

छन्दः—ऽऽ ॥ १५ ॥ १५ ॥ १५ ॥ १५ ॥ १५ ॥ १५ ॥ १५ ॥ १५ ॥ १५ ॥ १५ ॥ १५ ॥ १५ ॥

ततः समन्ततः समभिव्याप्तमच्युतमच्युतमवेक्षमाणः पाणिना कृपाणमादाय त्रिदशविपश्चेऽपि मोक्षमपेक्षमाण इव अधोक्षजसमक्षमागत्य सिद्धितगहनतरनादः सादरं हरिहरिहननाय करं व्यापारयामास । ततः समरसमारम्भसंभूतयोररमोत्साहस्फुरितप्रचण्डदोर्दण्डमण्डितप्रतापतपनतेजः प्रभाजनितार्वगर्गेण पुटः पुरहरादिदुर्धर्षामपं गिरीशगिरिगौरं कृतसंग्रामचापलमपि सुररिपुं पुरोऽवस्थितं मशकायमानम्नन्यमानो मनुजकेसरी पटुतरकरचपेटेन पाटितवान् । ततः सायमस्तगिरेरधस्तात् पनन्तं पतङ्गमिव पुस्तान् पतित हिरण्यकशिपुं स्वजान्वोरुपरि चकर्प ।

तत्र इति—ततस्तदनन्तरं त्रिदशविपश्चः दैत्य. स हिरण्यकशिपुरपि (त्रिदशानां देवानां विपश्चः शत्रुः) समन्ततः परितः समभिव्याप्तं सर्वत्र परिपूर्णम्

लंच्युतम् स्वरूपच्युतिर्विक्रिया तद्रहितम् विष्णुमेव, अवेक्षमाणः परिपश्यन्,  
 मोक्षमपवर्गमपेक्षमाणः अभिलषन्नैव अधोक्षस्य श्रीविष्णोः समक्षं-प्रत्यक्षमागत्य  
 उपगम्य पाणिना हस्तेन कृपाणमादाय असिमुद्यम्य हरेः हननाय विष्णुं हस्तुं  
 विहितः कृतः गहनतरः गभीरतरः नादः ध्वनिः येन सः सादरं करं हस्तं व्यापार-  
 यामास चालयामास । ततस्तदनन्तरं मनुजकेसरी नृसिंहः समरस्य आयोधनस्य  
 समारम्भे प्रारम्भे सम्भृतेन उत्पन्नेन वीररसोत्साहेन स्फुरिताभ्यां कम्पिताभ्यां  
 प्रचण्डाभ्यां दोर्दण्डाभ्यां भुजदण्डाभ्यां मण्डितस्य अलंकृतस्य प्रतापः तपनः  
 (सूर्य) इव तस्य तेजसः प्रभया कान्त्या जनितेन उत्पादितेन अस्त्रवेण गर्वेण  
 पुरोऽवस्थितं समक्षे स्थितं पुरहरादिवत् शिवादिवत् यद्वा पुरहरादिभिरपि दुर्धपः  
 दुरभिभवनीयः अमर्षः क्रोधो यस्य तं गिरीशस्य हरस्य गिरिः कैलासः तद्बद्ध  
 गौरवं गरिमा यस्य तं कृतं विहितं संग्रामस्य युद्धस्य चापलं येन तं तादृशमपि  
 सुररिपुं दैत्यं तं मशकायमानं मन्यमानः मशक इवाचरन् मशकायमानः तं मन्य-  
 मानः मशकवदाचरन्तं तं दैत्यं मन्यमानः, तं मशकाय मत्वेत्यर्थः, स विष्णुः  
 पट्टरेण दृढतरेण करचपेटेन पादितवान् जघान । ततः तदनन्तरं सायं सायंकाले  
 अस्तगिरेः पश्चिमाचलस्याधस्तात् पतन्तं निपतन्तं पतंगमिव सूर्यमिव 'पतंगः  
 पक्षिसूर्ययोः' इत्यमरः । पुरस्तात् स्वाग्रे पतितं तं हिरण्यकशिपुं स्वजान्वोरुपरि  
 चर्क्य आकृष्टवान् । 'जानुशब्दो नपुंसके पुंसि च' 'उरुजंघयोर्मध्यभागे' इति  
 शब्दस्तोममहानिधिः । मशकायमानम् इति मशक इवाचरतीति विग्रहे 'कर्तुः  
 क्यङ्सलोपश्च' इति क्यङ् । तस्माच्छानच् ।

अत्र प्रागुक्ते संदर्भे नृसिंहदैत्यराजयोपरस्परं युद्धाय समुत्साहः स्थायिभावः ।  
 परस्परमपेक्ष्य स्वस्वाभिमुखस्थितः शत्रुः आलम्बनविभावः । तस्य शस्त्रोद्यमन-  
 अमणादयोऽधिक्षेपवाक्यानि चोद्दीपनविभावाः । स्वकर्तृकाणि च तान्येवानुभावाः ।  
 'स्तम्भोद्भूताद्भुततमशरीर'मिति आश्चर्यम्, 'स्फुरद्गर्वोत्कर्षादि'ति गर्वः,  
 'यत्कृतान्तेन सार्धं स्पर्धा'सीति ईर्ष्या, 'मूर्च्छाभ्रमल्लोचनमि'ति मूर्च्छा, 'प्रताप-  
 तपनतेजः—प्रभाजनिताखर्वगर्वेण'ति पुनर्गर्वः 'पुरहरादिदुर्धप'मित्यमर्षः एते  
 संचारिभावाः । इत्थमत्र प्रागुक्तविभावादिभिरभिव्यक्त उत्साहो वीररसरूपता-  
 मापद्यमान आस्वाद्यते ।

इदं चात्र न विस्मर्तव्यं यत् अत्र 'सोत्साहमि'ति स्वशब्देन स्थायिभावस्यो-  
 पादानं संचारिणां च अद्भुतादीनां नौचित्यमावहति । तदुक्तं रसदोषनिरूपणा-  
 चसरे साहित्यदर्पणे—'रसस्योक्ति स्वशब्देन स्थायिसंचारिणोरपि' इति ।

इतके पश्चात्, वह सुरारि अपने स्वरूप में स्थित विष्णु को ही चारों ओर देखता  
 हुआ मोक्ष की अभिलाषा से मानो उनके समक्ष पहुँच गया और हाथ में खड्ग लेकर  
 विष्णु पर आक्रमण के लक्ष्य से गरजता हुआ बड़ी ऐंठ के साथ हाथ धुमाने लगा । बाद में,



सुद के आरम्भ होते ही उम्र वीरराम का अदम्य उत्साह उमड़ आया और इसके फलस्वरूप फट-फटानी हुई प्रचण्ड मुजाबों से विभूषित जो तेज-कांति प्रसूत हुई, उमके कारण महान् गर्व में भरा हुआ उनके समक्ष स्थित हो गया। उस समय उमके अर्मब की शानि महामाल रद्र के लिए भी अशक्य थी। इतना ही नहीं वह अपने में कैलास की गुप्ता का अनुभव कर रहा था, उसे इतना आवेश था कि वह सुद चापल्य दिग्गने पर उलारू हो गया था, पर इन सबके बावजूद भगवान् ने उसे मशक के समान ही समझा और इदतर चपटे से उमे विदीर्ण कर डाला। फिर सायकाल में अस्ताचल से नीचे गिरते हुए सूर्य-बिम्ब के समान सामने पड़े हुए हिरण्यकशिपु को अपनी जानुओं के ऊपर लीच लिया। अब रौद्र-परक वर्णन प्रस्तुत कर रहे हैं।

अथ रौद्र —

क्रूरनोधाभिक्वण्डोज्ज्वलनयनमिलद्भ्रुकुटीभिभ्रदुच्चै  
खादन् दष्टास्तदुत्थप्रत्तरतरररवो दन्तदष्टाधरोष्ठ ।  
श्वासोच्छ्वासोप्रनास कथमथ किमिति स्पष्टवाक् स्वैर्नरस्यै ।  
सिंहास्यो दैत्यभर्तुर्भृशमुदरदरीमुद्दारादरेण ॥ १७ ॥

कूरेति—सिंहास्य नृसिंह स विष्णु दैत्यभर्तुं दानवाधिपस्य तस्य हिर-  
ण्यकशिपो उदरदरीम् उदरगुहाम् आदरेण तत्परस्वेन स्वैर्नरस्यै नृश-  
मन्वर्थम् उद्ददार विदारयामास। कीदृश म सिंहास्य, कूरेति—क्रूर विकटो य  
क्रोधाग्नि कोपवह्नि तस्य कुण्डप्रत् उज्ज्वलयो प्रकाशमानयो रक्षयोर्वा नय  
नयो नेत्रयोर्मिलन्ती भ्रुकुटी ( द्वितीयाद्विवचने रूपम् ) उच्चै विभ्रत् । धारयन् ।  
दष्टा खादन्, तदुत्थ ताम्य दष्टाम्य उत्तिष्ठतीति तदुत्थ प्रत्तरतर तीक्ष्णतर  
रवो ध्वनिर्यस्य म, दन्त दशनै दष्ट अधरोष्ठो येन स, श्वासोच्छ्वासाम्यामुप्रा  
नामिना यस्य म, कथ केन प्रकारेण नृसिंहो जात किमिति कस्य हंतो इति  
च स्पष्टा स्फुटा जनाना वाक् यस्मिन् ( यद्विषये ) स । उद्दार इति उदुपसृष्टस्य  
विदारणार्थस्य 'द' धातो प्रत्यादिकस्य लिटि ।

उम नरसिंह ने दैत्याधिप हिरण्यकशिपु के गुहाशय उदर को अपने ननों द्वारा  
बड़े अभिनिवेश पूर्वक फाट डाला। इस क्रिया के अवसर पर क्रूर क्रोमन्वी अग्नि के  
कुण्ड सी लहकता हुई आगों की भीड़ें चट गई थी, दोनों चत्रा रद थ, और इस चर्वा क  
फन्स्वरूप दोनों से बहर-बहर की ध्वनि उत्पन्न हो रहा था, दोनों से अधरोष्ठ रद-रद  
कर फाट रहे थे, द्वांस प्रद्वानि से नासिका उभ रग रही थी, उनके विषय में चारों  
तरफ यह जनरव मजा हुआ था कि यह क्यों पैदा हुआ ?

अपि च—

उग्रक्रोधकृशानुधूमपटलान्यूर्ध्वं विवृद्धानि यत्  
तेनासीदसितं नभोऽपि भगणस्फारस्फुलिंगावलि ।  
किञ्चिद् दग्धमधस्तदुज्ज्वलजगद्ज्वालाभिरेतज्जने  
संध्याराग इति भ्रमं जनयति प्राच्यां प्रतीच्यां हरेः ॥१३॥

उपेति—हरेः नृसिंहस्य यत् यस्मात् उग्रः विकरालः क्रोध एव कृशानुः अग्निः  
तस्य धूमपटलानि ऊर्ध्वम् उपरि प्रदेशे विवृद्धानि तेन हेतुना भानां नक्षत्राणां  
गणाः वृन्दानि एवं स्फारा वितता स्फुलिंगावलयोऽग्निकणमाला यस्मिस्तत् नभो-  
ऽपि गगनमपि असितं श्याममासीत् । तस्य क्रोधान्नेरुज्ज्वलजगद् रूपामिर्ज्वा-  
लाभिः किञ्चिदधः प्रदेशे दग्धं प्लुष्टं नभः एतज्जने अस्मिन्मर्त्यलोकावासिनि मनुष्ये  
प्राच्यां प्रातः वासव्यां दिशि सायं च प्रतीच्यां वारुण्यां दिशि सन्ध्यायाः रागः  
सन्ध्याारागः, सन्ध्याकालिकोऽरुणिमा इति भ्रमं सन्देहं जनयति । अस्माभिः-  
प्रातःसायं सूर्योदयास्तमयवेलायां च क्षितिजेऽरुणिमा अवलोक्यते वस्तुगत्या-  
स हरिक्रोधाग्निना दग्धस्य द्युलोकाधःप्रदेशस्य प्रकाश एव वर्तते इति उप्येच्यते  
कविना । 'भं नक्षत्रे गभस्तां स्त्रीं पुंसि स्याद् भृगुनन्दन' इति मेदिनी ।

और भीः—

इस ( नृसिंह ) की क्रोधाग्नि से उद्भूत जो धूम-पटल आकाश में जाकर द्या गया  
था, उसने ही सारे आकाश को काला कर दिया है । साथ ही वहाँ जो तारिकाएँ दिखाई  
पड़ रही हैं, वह उस क्रोधाग्नि की चिनगारियाँ हैं । सायंकाल में पश्चिम दिशा की ओर  
तथा प्रातः में पूर्व दिशा की ओर जो प्रकाश के रूप में सांसारिक मनुष्यों को ज्ञात होता  
है, वह भ्रम है । वस्तुतः क्रोधाग्नि की लपटों से जला हुआ वह आकाश का अधोभाग है ।

अलङ्कारः—अपहृति । छंदः—SSS ॥S ॥S ॥S SSI SSI S शार्दूलविक्रीटितम् ॥ १३ ॥

अपि च—

अन्याय्यं न कलेवरस्य कलयन् नैवेन्द्रियाणामपि  
प्राधान्यं न हि तत्र कर्मकरणे त्वात्मा मदंशस्थितः ।  
सर्वानर्थपरंपरापरिणतं चित्तं भवेत् प्रायशो  
मत्सैवं हृदयं ददार नृहरिर्गीर्वाणनाथद्विषः ॥ १४ ॥

अन्याय्यमिति—नृहरिः नृसिंहः गीर्वाणनाथद्विषः इन्द्ररिपोस्तस्य दानवस्य  
सकलेऽपि देहे केवलं हृदयसुर एव ददार त्रिदारयामास । इतराणि सर्वाणि गात्राणि  
अधिकलान्येव मुमोचेत्यर्थः । कस्मादेवं कृतमिति तत्र हेतुमाह—कलेवरस्य  
दानवशरीरस्य इदम् अन्याय्यं न्यायादपेतं कर्म न इति कलयन् विचारयन् नृहरिः-

न तद् ददार । इन्द्रियाणामपि चक्षुरादीनामज्ञाणामपि इदमन्याय्य कर्म न सम्भवतीति तान्यपि जहौ । हि यत् कलेवरे इन्द्रियेषु च स्वस्यकर्मकरणे प्राधान्यं न वर्तते । मनःपरतन्त्राणि हि करणानि कर्म कुर्वन्ति । आत्मा तु मद्गस्थित जीवरूपेण भूमैवाज्ञ स्थितः । अतः सोऽपि तस्मिन् कर्मकरणे जघन्यकृत्यत्रियाया कथमपि न वर्तते असर्गावाद्रिति भावः । एवमस्याप्यात्मनः तत्र प्राधान्यं न हि वर्तते इति तमपि मुमोच । 'भूमैवाज्ञो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' इति स्मृतिः । प्रायश वाहुल्येन इदं चित्तमेव सर्वपापमर्थानामकर्मणा या परम्परा तद् रूपेण परिणतं घृष्टं प्राप्तं भवत् स्यादिति मत्वा ज्ञात्वा तदेव हृदयं विदारयामासेति भावः ।

और भी —

भगवान् नृहरि ने उस दानवरान के हृदय का विदारण यही समझ कर किया कि अबिकरर यह चित्त ( हृदय ) ही सब प्रकार की अनर्थ-परम्पराओं से भरा हुआ है । भक्त-पीटन एक अनुचित कर्म है और हम कर्म में शरीर का कोई हाथ नहीं । इन्द्रियों भी पराधीन ही हैं, उन उन का भी दोष नहीं । सारे कर्मों में वे मन से प्रेरणा पाकर ही प्रवृत्त होती हैं, और आत्मा तो हमारा ही अंग है, अतः उसका कर्म से क्या सबंध ?

अलंकार — हेतु प्रेक्षा । छन्द — ५५५ ॥५ ११ ॥ ५५१ ५५१ ५ शार्दूलविक्रीडितम् ॥१४५॥

अपि च—

प्रज्वलत्क्रोधकृशानुकुण्डे इव चण्डनयने विधाय दीर्घतरदनुजदेहं हविरिव स्याहाकारमिव हाहाकारमुच्चारयतो महर्षीन् श्रुत्विज इव तदधिष्ठातृदेवता सतर्पयन्निव अध्वरहिंसायाः वेदयोधित धर्ममाधनत्वमवधारयन्निव धर्मानुच्छेदपरो भगवान् दीक्षितत्वमङ्गीचकार ।

प्रञ्जलिति—धर्मस्य 'श्रुतिस्मृतिभ्यामुदितं यत् स धर्मः' इत्युक्तस्य श्रौतस्य स्मार्तस्य च कर्तव्यकर्मणः अनुच्छेदं मस्थापने परं तत्परं भगवान् श्रीविष्णु प्रज्वलत् दहमानस्य क्रोधकृशानो कोपवहे कुण्डे इव, कुण्ड होमाधिकरण गतविशेषः तदिव चण्डनयने प्रचण्डनेत्र विधाय, तत्र दीर्घतरमायतं द्रनुजदेहं दानवराय हविरिव विधाय साध्यामिव कृत्वा 'साध्या हविरग्नी तु हुतं त्रिषु चण्डकृतम्' इत्यमरः । हाहाकारमिव हिरण्यकशिपोरस्याचारेण हाहाकारमुच्चारयतो महर्षीन् श्रुत्विज इव याज्ञकान् कृत्वा 'आग्नीध्राद्यधनैर्वायां श्रुत्विजो याज्ञकाश्च ते' इत्यमरः । तदधिष्ठातृदेवता यज्ञाधिष्ठातृदेवता मन्तर्पयन् प्रीणयन्निव अध्वरहिंसाया यज्ञहिंसाया वेदयोधित वेदैराग्नीध्रैर्वाधित प्रतिपादित धर्ममाधनस्य धर्मोपकरणमवधारयन्निव निरुपयन्निव दीक्षितश्च दीक्षा सजाता यस्य

‘तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच्’ इति इतच् प्रत्ययः । तस्य भावस्तत्त्वं यागादिषु घृतनियमत्वमित्यर्थः । अङ्गीचकार स्वीचकार ।

और भी:—

उस समय ऐसा लगा मानो धर्म के संस्थापन में तत्पर रहने वाले भगवान् ने यज्ञ में दीक्षा ली हो, अर्थात् वे एक यजमान के रूप में अवतीर्ण हुए हों । इस यज्ञ में उनकी दोनों आँखें देसी लगती थीं जैसे प्रज्वलनशील क्रोधाग्नि के कुण्ड हों; दीर्घतर दानव की देह ही मानो हवि हो, ऋषिगण ही ऋत्विज् हों और उनका हाहाकार स्वाहाकार की ध्वनि हो । प्रतीत होता था मानो भगवान् स्वयं इस यज्ञ के अधिष्ठात् देव को वृत्त कर रहे हों, तथा यज्ञ-संबन्धिनी हिंसा वो वेधबोधित होने से समर्थित कर रहे हों ।

ततः संक्षोभोद्भूतनैष्ठुर्यवशाद् दंष्ट्राखादनजातकर्कशरवेण तर्जयन्निव, लोचनार्चिपा दहन्निव, श्वासपवनैः शोषयन्निव, उच्छ्वाससमीरणैराकर्षयन्निव, कुललल्लोलरसनया प्रसन्निव, चिरतररचितापराधं दैत्याधमं खरतरनखरैर्दारितवान् ।

तत इति—ततस्तदनन्तरं स हरिः संक्षोभात् क्रोधात् उद्भूतम् उत्पन्नं यत् नैष्ठुर्यं क्रौर्यं तद्वशात्, दंष्ट्राभिः दंष्ट्राणां खादनेन भक्षणेन जात उत्पन्नः यः कर्कशः खरतरः रवः शब्दः तेन तर्जयन्निव भर्त्सयन्निव, लोचनार्चिपा नेत्रज्वालाया दहन् मस्मीकुर्वन्निव, श्वासपवनैः श्वासमासूतैः शोषयन् शुष्कतां नयन्निव, उच्छ्वाससमीरणैः उच्छ्वासपवनैः आकर्षयन् बलास्त्वसमीपमानयन्निव । कुललल्लोलैति—कौ पृथिव्यां ललन्ती आस्वाद्यस्वादनाय चलन्ती लोला चपला या रसना जिह्वा, तथा प्रसन्निव आस्वादयन्निव, चिरतरात् ब्रह्मोः कालात् रचितः कृतः अपराधी येन तं दैत्याधमं नीचं दैत्यं खरतरैः तीक्ष्णतरैः नखरैः नखैः विदारयामास ।

अत्र रौद्रसे हिरण्यकशिपुं प्रति भगवतः क्रोधः स्थायिभावः । हिरण्यकशिपु-रूपः शत्रुरालम्बनविभावः । स्वभक्तप्रह्लादं प्रति पर्वतपातनसमुद्रमज्जनाग्निदाहादिरूपास्तच्चेष्टाः स्मर्यमाणाः उद्दीपनविभावाः कल्प्याः । द्वादशश्लोकोक्तानि कर्माणि अनुभावाः । उग्रतावेगमोहमदाद्यश्च संचारिभावा आहार्याः । उत्प्रेक्षा चालंकारो व्यञ्जकतत्तदर्थोपस्कारद्वारोपकारकः । अत्रापि सन्दर्भे तत्र तत्र क्रोध-रूपस्य स्थायिभावस्य स्वशब्देनोल्लेखो नोचितः ।

उस अवसर पर संक्षोभ के कारण जो उनमें अत्यधिक नैष्ठुर्य की भावना जाग्रत हो गई थी, मानों उसी के परिणाम-स्वरूप दातों से दाँतों के चर्वणवश उद्भूत प्रखर ध्वनि के व्याज से उसे तर्जना दे रहे हों, नेत्र से निकलती हुई ज्वाला से उसे जला रहे हों, लम्बे लम्बे द्वातों के रूपमें प्रवाहित वायु से जैसे शुष्क बनाते जा रहे हों, उच्छ्वास की वायु से जैसे अपनी ही ओर खींच रहे हों, भूतल में आस्वाद्य के स्वादन में ललचाई

इस चञ्चल विद्या से चार रहे हों — इस प्रकार श्री नृसिंह ने चिरकाल से अपराध करने वाले उस राजसुतापन को अपने तीव्र नखों से विधीर्ण कर डाला ।

अथ बीभत्स —

प्रखरनखराधातोद्दीर्यत्सुरान्तकवधस

क्षतशतगलद्रक्तोद्विक्तैर्त्रसान्यपलास्थिभिः ।

सह कफमलैर्मज्जापुञ्जै क्षण परिपश्यतो

जनयतु सता विष्णोरुद्युगुप्सितमीप्सितम् ॥ १५ ॥

प्रखरेति—प्रखरागा तीक्ष्णानां नखराणां नखानाम् आघातै उद्दीर्यंत विदीर्यमाणस्य सुरान्तकस्य हिरण्यकशिपो वधस उरस चताना घणानां शतेभ्य गलत ध्वजत रक्तात् शोजितात् उद्विक्तै निर्गच्छद्भि कफमलै मज्जायां सारस्य धातुविशेषस्य पुञ्जै मर्मूहै च सह यसा कपाच, अन्य पुरीतत् च, पलं मांसं च, अस्थि कीकस च तेषामितरेतरयोग तै परिपश्यत वीक्षमाणस्य जनस्य क्षण स्वल्पकालम् उद्यत् प्रादुर्भूयत् जुगुप्सित जुगुप्सा यत्र तद् विष्णो कर्मत्वन्यपदार्य भूत विशेष्यमध्याहार्यम् । सतां सञ्जनानाम् ईप्सित मनोरथं जनयतु पूरयतु । 'मेदस्तु कपा यसा' इत्यमर । 'कीकस कुल्यमस्थि च' 'अन्य पुरीतत्' 'सारो मज्जा' 'स्याद्यामिपे पलम्' इत्याद्यमर ।

अथ बीभत्स मर्षित उपस्थित कर रहे हैं—

विष्णु का वह ( विचारण ) कर्म सज्जनों के समीहित को परिपूर्ण करे, जिसे देखने वालों में जुगुप्सा की रात्रि अद्भुत एव प्रदीप्त हो उठती है । कारण यह है कि वह कर्म देना है, जिसमें नुरीठे नखों के आघात से विदीर्यमाण दानव के वक्षस्थल में सैकड़ों घाव हो गए हैं और उन घावों से रक्त की धारा फूट पड़ी है, साथ ही रक्तस्राव के अतिरेकवश यसा, मल, मांस, अस्थि, कप, एवं मज्जा का पुञ्ज निर्वाध बाहर च्युता च्युता का रहा है ।

छन्द—॥ ॥ १५ ॥ १५ ॥ १५ ॥ १५ ॥ इरिण्ये ॥ १५ ॥

अपि च—

धिग्दुःशरीरमिदमत्र शरीरभाजाम्

उर्ध्वं कफ श्रवणनेत्रमल प्रसूते ।

अन्तर्विभर्ति रधिरास्थिपलान्यधस्तात्

मूत्र पुरीषमिति पातु हरेर्जुगुप्सा ॥ १६ ॥

पि पि—अत्र लोके शरीरभाजां देहिनाम् इदम् अज्ञो दुःशरीर दुष्ट कलेवर धिक् । यस्य शरीरम्योर्ध्वमुपरिभागं तिर इत्यर्थः । मुखेन कर्णं प्रसूते उपाद्यति

श्रवणाम्यां कर्णाभ्यां नेत्राभ्यां च मलं प्रसूते जनयति । अन्तश्च यो देहो रुधिरं रक्तं च, अस्थिकीकसं च, पलं मांसं च तानि विभर्ति धारयति । अधस्तान्नाभेरधोभागे च मूत्रं पुरीषं च विभर्ति । इति दृष्ट्वा जायमाना हरेर्विष्णोः जुगुप्सा घृणानः सर्वान् पातु अवतु । आशिपि लोट् ।

इत संसार में शरीरधारियों के उस घृणित कलेवर को धिक्कार है, जिसका शिरोभाग मुख के रास्ते कफ फेंकता हो, श्रोत्र एवं कर्ण के द्वारा मल पैदा करता हो, अन्तर में रुधिर, अस्थि, एवं मांस धारण करता हो और जिसके अधोभाग में मूत्र एवं मल की स्थिति हो । ऐसे शरीर को देख कर उदित हुई विष्णु की जुगुप्सा हम सब की रक्षा करे ॥

छन्दः—ऽऽ। ऽ। ।। ।। ।। ऽऽ वसन्ततिलका ॥ १६ ॥

अपि च—

द्वैत्यारातेर्नखेभ्यः सपदि कृतभरैः स्वीयदेहोद्गतेभ्यः

भूयो रक्ताभिपेकैरुपरिपरिपतन्मांसखण्डोपहारैः ।

आत्मज्योतिःप्रकाशः प्रचुरसुमनसोऽप्येप हुंकारगर्भैः

मन्त्रैरन्योपवीतैः सुररिपुरकरोत् प्रेमपूजोपचारम् ॥ १७ ॥

द्वैत्येति—स्वीयात् आत्मनः अर्थात् हिरण्यकशिपोः देहात् कायात् उदरमध्यादित्यर्थः । उद्गतेभ्यः निर्गतेभ्यः द्वैत्यारातेः विष्णोः नखेभ्यः ( हेतौ पञ्चमी ) सपदि तत्कालमेव कृतभरैः कृतो भरो भरणं नखजगर्तपूरणं यैरिति रक्ताभिपेकविशेषणम् । भूयोरक्ताभिपेकैः प्रभूततरशोणितस्नानैः स्नपनैर्वा उपरि पतद्भिः मांसखण्डोपहारैश्च अन्त्राणि पुरीतन्ति एव उपवीतानि यज्ञोपवीतानि तैर्दुङ्कारगर्भैर्मन्त्रैश्च आत्मनः स्वस्य ज्योतिषः तेजस एव प्रकाश एव सुररिपुः सुरारिः प्रचुरसुमनसः विष्णोः प्रेमपूजोपचारं प्रेम्णा भक्त्यतिशयेन पूजा परिचर्या तस्या उपचारं सेवनं व्यवहारं वा अकरोत् । यदा विष्णुर्हिरण्यकशिपोः उदरदरीमुद्दहार तदा तस्योदरात् बहुशोणितं मांसादि च यहिर्निरगमत् । कविरत्रोत्प्रेक्षते यत् स सुरारिः नूनं तेन रक्तादिना विष्णुमपूपुजत् । प्रचुरं सुष्ठु च मनो यस्य स प्रचुरसुमनास्तस्य अथवा प्रचुराः प्रभूताः सुमनसो देवाः यस्य स तस्य । सर्वदेवमयत्वाद्विष्णोः । यतो विष्णुः प्रचुरसुमना अतस्तस्य पूजां सुमनोभिरकरोत् किंतु असुरजातिस्वाभाव्याद् भक्त्यतिशयात्साहसिकत्वाच्च स्वकीयमांसरुधिरादिभिरेवेति भावः ।

उस अवसर पर मानों इस देवद्वेषी हिरण्यकशिपु ने अपने उदर के मध्य को विदीर्ण कर बाहर निकले हुए विष्णु के नखा से उद्भूत घावों को भरती हुई रक्तधारा से अभिपेक

ऊपर गिरते हुए मासपण्डों से उपहार, अतडियों से उपवीत, हुंकार के रूप में आ-  
लङ्कारण । एवं अपनी नैसर्गिक कान्ति से ही दीप का काम लेते हुए बड़े आदर-पूर्वक  
विष्णु की पूजा की ।

अलंकारः—रूपक । छंदः—SSS SIS SI III ISS ISS ISS स्रग्धरा ॥ २७ ॥

महदिदमस्मदनर्हं गर्हास्पदं संप्रति प्रतीयते, यत् कुत एवैतत् श्रव-  
णनयनयुगलाफलितामलरसनागलल्लोकण्ठनालनासानिःसृतकफोपहित-  
मुखं, स्रवद्रुधिरप्रवाहमज्जन्मज्जापुञ्जम्लिन्नमेदोमांसवसावसानं, स्नायु-  
सेवनीमनीनिवद्धास्थिसहस्रसंधिदुर्गन्धिपरिपूरितपुरीषं, स्रवन्मूत्रचर्म-  
कारक्षारोपस्कृतनीरपूरितमीपद्गलद्रसमाद्रं चर्मपुटमिव शरीरमेतत् ।  
कुतो वाऽस्माकमत्रापस्थान चिदंशत्वेन तत्रापि लीलागृहीतविग्रहाणामपि  
साक्षादस्मिन्करस्पर्श इति श्वासावरोधपूर्वकं वदतः नृहरेर्हृदयमतीव  
जुगुप्सास्पदमासीत् ।

महदिति—सम्प्रति इदमतीव गर्हास्पदं निन्द्यमस्माकम् अनर्हमयोग्यं च प्रती-  
यते । यत् यस्मात् कुत एव एतत् शरीरं, कुत्र एवंविधं शरीरं, कुतो वा क्व वा  
अस्माकमत्रापस्थानमिति, नोभयं सगच्छते इत्यर्थं इत्युत्तरेणान्वयः । तत् शरीरं  
कीदृमित्याह तच्छब्देति—युगलशब्द उभयत्रान्वेति श्रवणयुगलेन श्रोत्रयुगेन  
नयनयुगेन च आकलितः गृहीतः अमलरसनायाः निर्मलजिह्वायाः गलन्, लोलात्  
कण्ठनालात् नासातश्च निःसृतं निर्गतः यः कफः तेन उपहतं मुखं वदनं यस्य तत्  
शरीरम् । पुनः कीदृक् शरीरं वर्तते इत्याह—स्रवन्निति । स्रवन् शरीरात् परन् य-  
रुधिरप्रवाहः तत्र मज्जन् निमज्जन् यो मज्जापुञ्जस्तेन विलिन्नं मेदश्च, मांसं च ।  
वसा च एतेषां समाहारः इति मज्जापुञ्जविलिन्नमेदोमांसवसं तदेव अवसानम् अव-  
सितं रूपमन्तिमरूपं यस्य तदिदं शरीरम् । पुनः कीदृग् शरीरमित्याह स्नायिविति ।  
स्नायवः नाह्य एव सेवनीमन्यः सूचिकामेदास्ताभिः निवद्धः अस्थिसहस्रसन्धिः  
तत्र दुर्गन्धिपरिपूतं पुरीषं यत्र तत्, अत एव तदीदृक् शरीरं, स्रवन्मूत्रमेव चर्म-  
कारस्य चारेण उपस्कृतं नीरं पयस्तेन पूरितं, ईपद् गलद्रसं आद्रं चर्मपुटमिव  
वर्तते । अतोऽस्माकमत्र ईदंशं पूतिपूरिते शरीरेऽवस्थानं नोपयुज्यते इति । तत्रापि  
च लीलया गृहीतः विग्रहः शरीरं यैस्तेषामस्माकमस्मिन् शरीरे करेण साक्षात्  
स्पर्शानोचित इति श्वासावरोधपूर्वकं वदतः नृहरेः हृदयमतीव जुगुप्सास्पदमासीत् ।

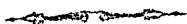
अत्र प्रकृतसन्दर्भं जुगुप्सा स्थायिभावः । नृहरिनखविदीर्णं हृदयमानरधि-  
मासमेदो हिरण्यकशिपुशरीरमालम्बनविभावः । तत्र मूत्रपुरीपरुधिरमांसमज्जा-  
मेदोऽन्याद्यवसानादिकमुद्दीपनविभावः । अचिनिमीलननासापिधानादिकोऽनु-

भावः कल्प्यः । संचारिभावा अपि मोहावेगादयः कल्प्याः । अत्र जुगुप्सारूप-  
स्थायिभावस्य पुनः पुनः स्वशब्देनोक्तिरत्यन्तमनुचिता ।

इति श्रीनृसिंहचम्पूकाव्ये तृतीयोच्छ्वासः ।

इस समय, यह अतीव निन्दास्पद एवं मेरे लिये अनुचित जान पड़ता है कि कहीं  
यह शरीर और कहीं मेरी संस्थिति ? दोनों में कोई सङ्गति नहीं । उसका कारण यह है कि  
शरीर के सभी अवयव नितान्त जुगुप्साजनक हैं । पहले मुख ही को लीजिये, वह दोनों  
आँखों और कानों से निःसृत, निर्मल जिह्वा से गलित, लोल कण्ठ एवं नासिकासे निगंत  
कफादि मलों से भरा हुआ है । दूसरे यह कि प्रवाहित होता हुआ रुधिर का प्रवाह अपने  
भीतर मज्जा पुञ्ज को लिए हुए सारे शरीर को भरे हुए है । और विचारपूर्वक देखा जाय  
तो यह शरीर क्या है ? मेदा, मांस, वसा की समष्टि ही तो एकत्र है । और देखिये, नाटा  
रूपी मूत्रिकाओं से सिली हुई असंख्य हड्डियों के पथर में मलराशि इकट्ठी है जिमसे  
जुगुप्साजनक गंध निकलती है । अधिक क्या कहें, चमारों के द्वार जल से आर्द्र चर्म  
को जो दशा है, वही बहते हुए मूत्र-प्रवाह से आर्द्र शरीर की स्थिति है । अब सोचने  
की बात है कि ऐसे कुत्सित शरीर से संबंध रखना मेरे लिए कितना अनुचित है ? उसमें  
भी इस लीलाविग्रह के हाथों से स्पर्श तो नितान्त गर्हणीय है—इस प्रकार श्वासावरोध-  
पूर्वक भाषणप्रवण भगवान् नरसिंह का दृश्य जुगुप्सा से भर उठा ।

नृसिंह चम्पू का यह तृतीय उच्छ्वास समाप्त ।





## अथ चतुर्थ उच्छ्वासः

अथाद्भुतः—

हाहाकारं विदित्वा जगति दिविपदोऽनल्पकम्पान्तकल्पं,

प्रोद्यच्छंकाकलंका अवनिमघययुः स्वैर्विमानैरमानैः ।

दूरादालोक्य लोकाद्भुततरवपुषं दीर्णदैत्येन्द्रदेहं,

पद्मां पद्मोद्भवादिप्रथितगुणगणां विस्मिताः प्रोचुरुच्चैः ॥ १ ॥

हाहाकारं—एवं दैत्येन्द्रवधानन्तरं द्विविधो देवाः 'आदितेया दिविपदो लेग्या-  
अदितिनन्दना.' इत्यमरः । जगति मर्त्यलोके अनल्पकम्पान्तकल्पम् अनल्पश्चासौ  
कम्पान्तश्च तस्मिन् प्रत्येकालसदृश हाहाकारं विदित्वा ज्ञात्वा श्रुत्वा वा प्रोद्य-  
च्छंकाकलंकाः प्रोद्यन् उद्गच्छन् प्रादुर्भवदित्यर्थः, शंकाकलंकाः आतंकपंकः येषां ते  
विस्मिताश्च सन्तः देवाः अमानैः प्रमाणाहितैः अतिविशालैरित्यर्थः, विमानैर्वायु-  
यानैः अवनिसु घाणिम् अवययुः अरुहः । देवाः स्वर्गाद् धरण्यामायदित्यर्थः ।  
आगत्य च देवाः लोकाद्भुततरवपुषं लोकैभ्यः अद्भुततरं विलक्षणतरं वपुः पारि-  
र्यस्य तं, दीर्णदैत्येन्द्रदेहं दीर्णं, त्रिदीर्णः दैत्येन्द्रस्य हिरण्यकशिपोः देहो यत्र तं  
विष्णुं दूरादवलोक्य पद्मोद्भवादिप्रथितगुणगणां पद्मोद्भवो मन्त्रा तत्पत्नीनां देवानां  
प्रथिताः क्वीताः गुणगणा यस्यास्तां सर्वदैवतन्धामित्यर्थः । तां पद्मां विष्णुपत्नीं  
लक्ष्मीम् उच्चैः स्पृष्टं प्रोचुः अवोषन् । भीतास्तदा देवाः दैत्यारातेः प्रमादात् जग-  
न्मान्तरं लक्ष्मीं वक्ष्यमाणप्रकारेण तुष्टपुत्रित्यर्थः । 'पद्मा कमला श्रीर्हरिप्रिया' इत्यमरः ।

अद्भुत-रसमय वर्णन से आरम्भ किया जा रहा है ।

समार में प्रत्येकाल के समान हाहाकार सुनकर देवगण आतङ्क-अस्त हो गए और  
अपने अपरिमेय विमानों से भूतल पर उतर आए । दूर ही से लोक में अद्भुत रूप वाले  
दैत्येन्द्र के देह को विदीर्ण देखकर, मन्त्रा आदि देवों में विस्मय गुणगणवाली विष्णु-  
पत्नी को विस्मयाविष्ट देवताओं ने उच्च स्वर में कहा ।

छन्द—ऽऽ ऽऽ ऽऽ ॥

किमूचुर्देवा इत्याकांक्ष्याह—

मातर्जगज्जननि ? पद्मकृताधिवासे ! कोपं निवारय हरेर्मुर्मर्दनस्य ।

नो चेच्चिरं रचितचारुचराचरस्य सक्रोधवीक्षणवशाद् भविता विनाशः ॥२॥

मातरिति—पद्मे कमले कृतो त्रिहितोऽधिवासो निवासो यथा सा तस्मिन्बुद्धौ  
हे पद्मकृताधिवासे ! पद्मालये इत्यर्थः । जगतः जगत्प्रथमस्य जननी उपाधिपत्नी,  
सत्सम्बुद्धौ हे जगज्जननि ! मात । कमले ? शीघ्रं सुरमर्दनस्य सुरं दैत्यविशेषं मर्द-

यति हिनस्ति इति तस्य हरेरित्यर्थः, कोपं क्रोधं निवारय अपगमय । नो चेत् अन्यथा यदि विष्णुकोपं त्वं शीघ्रमेव न शमयिष्यसि तर्हि विष्णोः सक्रोधवीक्षण-वशात् सक्रोधावलोकनवशात् सक्रोधं यद् वीक्षणं तद् वशात् चिरं चिरकालं यावत् प्रयत्नेन रचितस्य, चारुणः मनोहरस्य अस्य चराचरस्य जगतः विनाशः प्रणाशः भविता भविष्यति, सद्य एव नन्दयति जगदेतदित्यर्थः ।

देवताओं ने कहा—

हे माता ! हे जगज्जननी ! हे पद्मवासिनी ! मुरारि के क्रोध को शान्त करो: अन्यथा शीघ्रकाल का रचित चराचर जगत् इनके क्रोधपूर्ण वीक्षण से ध्वस्त हो जायगा ।

छन्दः—SS I S I I S I S S वसन्ततिलका ॥ २ ॥

लक्ष्मीः—

सिंहः सिंह इति प्रथा प्रथमतः पञ्चन्तरोऽयं नरः

पश्चादेव नृकेशरीत्यतितरामाश्चर्यमुज्जृम्भते ।

नैतादृक् क्व च वीक्षितं न च कदाप्याकर्णितं भोः सुराः ?

स्वान्तं किंतु नितान्तमद्भुतरसे मग्नं ममास्ते मनाक् ॥ ३ ॥

सिंह इति—लक्ष्मीस्वाच । भोः सुराः अयि देवाः ? प्रथमतः पूर्वं सिंहः सिंहः, सिंहोऽयं सिंहोऽयमिति प्रथा ख्यातिः 'प्रथा ख्यातौ' इत्यमरः । पश्चादनन्तरमयं नरः अयं नरः इति प्रथा पश्चात् परस्तात् च अयं नृकेशरी नृसिंहोऽयमिति अतितराम-त्यर्थमाश्चर्यमुज्जृम्भते । हे देवाः ? मया अद्यावधि एतादृक् क्वचनपि न च वीक्षितं दृष्टं न च कुत्रापि आकर्णितं श्रुतम् । किन्तु तथापि, प्रथमत उद्भूतात्यन्ताश्चर्यस्य भावतोऽलौकिकशक्तिविचारेण निवारणेऽपीत्यर्थः । मम स्वान्तं मनः 'स्वान्तं हन्मानसं मनः' इत्यमरः । अस्मिन् नितान्तमतिशयेन अद्भुतरसे मनाग् ईपत्काल मग्नं निमग्नम् आस्ते वर्तते । 'मनागित्यव्ययमीपदर्थे मन्दे च' इति शब्दस्तोम-महानिधिः । भगवतो लोकातिशायिशक्त्या इच्छाविग्रहवचनं ज्ञातवत्या अपि अदृश्युतपूर्वविग्रहावलोकनादीपत्कालमाश्चर्यं चेतस्युदेत्येवेति भावः ।

फिर लक्ष्मी ने कहा—

पहले पहल जिन लोगों ने देखा, उन लोगों ने तो यही फैलाया कि—यह सिंह है सिंह । पर जब फिर ध्यान से देखा, तो मनुष्य; अंत में लोगों ने तब किया कि यह सिंह का मिथित आकार है—बड़ा आश्चर्य हो रहा है । हे देवगण ! न तो मैंने इस आकार का प्राणी कहीं देखा और न सुना; इसीलिए क्षणभर के लिये मेरा अंतःकरण अमुन रस में डूब गया है ।

छन्दः—SS I I S I I S S I S S शार्दूलविक्रीटितन् ॥ ३ ॥

अपि च—

पित्रा या हनन शिशोः प्रजननं स्तम्भाच्च सम्भावितम्  
विष्णोर्वा नृशरीरमस्ति कुहचित् सिहाङ्गसंमिश्रितम् ।

इत्याश्चर्यपरम्परा-परिणति-व्याधूत-धैर्यं मनो

नाद्यापि स्थितिमेति मे सुमनसं किं तत्र कृत्यान्तरम् ॥ ४ ॥

पित्रेति—किं क्वचित् पित्रा शिशोरात्मजस्येत्यर्थः, हनन हत्या सम्भावित, न केनापि सम्भावितमित्यर्थः । किं च, क्वचित् स्तम्भात् प्रजनन कस्याप्युत्पत्तिः सम्भाव्यते, न केनापि कदापि सम्भाषयितुमपि शक्यमेतत् । अथवा किं क्वचित् विष्णोर्हरे मिहाङ्गसंमिश्रितसिंहस्य केसरिण अगौ अवयवैः संमिश्रितं मिलितं नृशरीरमस्ति, नरसिंहरूपेण प्रादुर्भवनं सम्भाव्यते किम् ? अर्थात् किं क्वचित् केनापि विष्णोर्नृसिंहरूपेण प्रादुर्भवनमद्य यावद् दृष्टं श्रुतं वा ? न श्रुतं नापि च दृष्टमित्यर्थः । सुमनसो देवाः । इतीत्यमाश्चर्याणां परम्परायाः परिणत्या परिणामेन व्याधूतं र्पानिनं धैर्यमवष्टम्भो यस्य तत्तादृग् मे मनः वर्तते इति शेषः । तच्च तथा भ्रान्तं मे मानसमद्यापि स्थिति स्थिरतां न एति । न प्राप्नोति । तत्र एवविधे व्यतिकरे किं कृत्यान्तरं किमन्यत् कार्यं कर्तुं शक्यते । 'सुपर्वाणः सुमनसमित्र-दिनेना दिवौकस' इत्यमरः । सिंहस्य केसरिणः अगेन अवयवेन संमिश्रितं संमिश्रितम् ।

और मा —

मला कमी यह देखा या सुना है कि पिता अपने पुत्र की हत्या करता है ? कहीं यह भी सुना है कि रत्न से कोई पैरा हुआ है ? मला कमी विष्णु की आकृति नृसिंहाकार हुई है ? इन सब आश्चर्य-परम्पराओं की परिणति से भर-भर कोपना हुआ मेरा मन अब तक भी अपने आपे में स्थिर नहीं हो सका है । ऐसी स्थिति में हे देवगण ! जाय ही बताएँ, और कौन सा अन्य कार्य किया जा सकता है ? जहाँ अपने चित्त को ही मैं स्थिर नहीं कर पाती, वहाँ और क्या बर सकती हूँ ?

छन्दः—SSS 1S 1S 1S SSS 2S 2S S शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ४ ॥

देवा—

अहो ! महदाश्चर्यमेतद् अस्माभिरकस्मादनुभूयते यन्मनोपि भ्रमवि-  
षयमकाण्डताण्डयितमिव, त्रिमुत्तरकालानुस्थायां चिरसमयाप्रलोकित-  
स्वप्न इव, त्रिमाहोस्यन्नुत्सर्जनस्य मनोपिनोदजनकस्वमायाविलमित-  
मिदमेति सशयविषयदूषितमनसः—सुमनसोऽपि कादिशीका इव स्म ।

अथ किं पुनर्वचं, मधुसूदनसुन्दरीन्दिरापि अननुभूताद्भुततररूपदर्शनाद् विस्मिताऽस्मदनुकंपाकलितचित्ताऽद्यापि पुरः प्रचलितुं न साहसमवलम्बते ।

इत्यद्भुतः ।

अहो इति—अहो इत्याश्चर्यसूचकमव्ययम् । अस्माभिरद्य अकस्मात् अतर्कितोपनतमित्यर्थः, एतत् महत् आश्चर्यमनुभूयते अनुभवगोचरीक्रियते । यद्यस्मात् किम् अकाण्डताण्डवितम् असमयसञ्जातताण्डवमिव भ्रमविषयं भ्रान्तिमिदं मनोऽनुभूयते, अर्थात् अयं सर्वां दृश्यमानो नृसिंहप्रादुर्भावादिरूपो मनःकल्पित एवास्माभिरनुभूयते । अथवा किमुत्तरकाले अनवस्थायी न स्थातुमर्हः धिरसमये पूर्वं कदाचिदिह जन्मनि परस्मिन् वा जन्मनि अवलोकितः स्वप्न इव अनुभूयते । आहोस्वित् अथवा किमिदं सर्वं सुरमर्दनस्य श्रीविष्णोः मनोविनोदजनकं स्वमायाया विलसितं विचेष्टितमिव वर्तते इति शेषः, इतीत्थं संशयविषयेण संशयरूपेण विषयेण दूषितं परिभूतं मनो येषां ते वयं सुमनसोऽपि सुष्ठु मनो येषां ते देवाः सन्तोऽपि स्थितप्रज्ञाः सन्तोऽपि वयं कान्दिशीका इव स्मः । भीताः सन्तः कर्तव्याकर्तव्यविमूढा इव जाताः स्मः । अथ किं पुनर्वचं, अथवा अस्माकं तु कैव कथा, स्वयं मधुसूदनस्य विष्णोः सुन्दरी प्रिया इन्दिरा लक्ष्मीरपि अननुभूतस्य पूर्वं कदापि अदृष्टयाश्रुतस्य च अद्भुततरस्य रूपस्य दर्शनात् विस्मिता सती अस्माकमनुकम्पायाम् आकलितं धारितं चित्तं मनो यया सा सती । 'अस्मदनुकम्पाकलितचिन्तेति' पाठे अस्मासु दययाऽकलिता गृहीता चिन्ता कथं लोकस्य कल्याणं भविष्यतीत्येवंरूपा यया सेत्यर्थः ।

अत्र अद्भुतरसे विस्मयः स्थायिभावः । लोकाद्भुतं नृसिंहशरीरमालम्बनम् । तच्चाद्य श्लोके लोकाद्भुततरवपुषमित्यनेन विशेषेणोक्तम् । दीर्णदैत्येन्द्रदेहमित्यनेन दैत्येन्द्रदेहदारणरूपा तच्चेष्टा उद्दीपनविभाव उक्तः । प्रोद्यच्छृङ्गाकलंका इति भयरूपो व्यभिचारिभाव उक्तः । विस्मिता इति विस्मयस्य स्थायिभावस्य स्वशब्देनोपादानं तु नोचितम् । द्वितीयपद्योक्तो भगवतः कोपोऽपि सञ्चारिभाव एव—तृतीयचतुर्थपद्योक्तैरुद्दीपनविभावैश्च स्थायिनो विस्मयस्य पुष्टिरेव क्रियते । भ्रमविषयमकाण्डताण्डवमिति भ्रान्तिः, किमुत्तरकालानवस्थायीत्यादि वितर्कः, कान्दिशीका इवेति भयम्, अस्मदनुकम्पाकलितचिन्तेति चिन्ताकारुण्ये, एतेऽपि सञ्चारिभावाः । इत्याश्चर्यपरम्परापरिणतिव्याधूतधैर्यं मनो नाद्यापि स्थितिमेति इति मनोऽनवस्थानरूपः सगभ्रमोऽनुभावः । अन्येऽपि स्तम्भस्वेदरोमाञ्जगद्भ्रदस्वरभाषणादयोऽनुभावा आक्षेप्याः ।

इति अद्भुतरसनिरूपणम् ।

देवताओं ने वह .—

अहो ! इस समय यह महान् आश्चर्य हो रहा है कि क्यों यह मन एकाएक उदर-पुच्छ का अनुभव करता हुआ भ्रान्त हो गया है ? जो कुछ भी सामने दिखाई पड़ रहा है, यह मत्स्य है ? अथवा शीत अदृश्य हो जाने वाला दृष्ट पुरातन माकार स्वप्न है ? अथवा मुरारि का मनोविनोदिनी माया का क्षणिक विलास है ? क्या कारण है कि उक्त विवरणों में अस्वस्थ चित्त वाले हम स्थितप्रज्ञ देवताओं को भी डर के मारे विम निशा में जाकर छिपें—यह वृत्ति उत्पन्न हो रही है ? और हम लोगों की ही क्या बात है स्वयं विष्णुपत्नी लक्ष्मी भी इस अननुभूत अद्भुततम रूप को देखकर त्रिस्मित हो उठी हैं । यही कारण है कि यद्यपि वे हम लोगों पर अत्यन्त कृपाशील हैं, फिर भी कुछ कर नहा पा रही हैं ॥

यहाँ तक अद्भुत रम का निरूपण हुआ ।

अथ हास्यरसः—

परस्पर-प्रेषण-कातराणां शंकातुराणामिह सत्वरारणाम् ।

सवेग-संलापयचो-विचारैः क्षणं सुराणां समभूद् विनोदः ॥ ५ ॥

परस्परेति—अथ तदद्भुतदर्शनानन्तरं सर्वेषां सुराणां परस्परमेव वदयमाण-प्रकारेण सुमहान् विनोदोऽभवत् । परस्पर मिथः प्रेषणाय श्रीविष्णोः समीपे गमयितुं कातराणां चञ्चलानामधीराणां वा शंकातुराणाम् आतंकव्याकुलानां सत्वरारणाम् स्रष्टितिकारिणां सुराणां सुमनसां सवेगसंलापे ससम्भ्रमालापे जातैर्वचोविचारैः वाग्भिर्विचारैश्च क्षणं मुहुर्तं विनोदः पारस्परिक हास्यमित्यर्थः समभूत् । 'कातराऽ-धारैश्चञ्चले भीते' इत्यादि शब्दस्तोममहानिधिः ।

अब हास्य रम का निरूपण आरम्भ किया जा रहा है ।

[ रम अद्भुत जीव का दर्शन होने पर ] आपद्ग्रस्त, स्वराशील एवं परस्पर एक दूसरे को ( विष्णु के समीप ) भेजने के लिए चञ्चल चित्त वाले देवताओं में जो कुछ देर तक आलाप होते रहे, उन अवसर पर व्यक्त किये गये शब्दों एवं विचारों को लेकर उनमें कम्पी विनोद होना रहा ।

छन्दः—ऽऽऽ ऽऽऽ ॥ ५ ॥ उनेन्द्रवज्रा ११ वर्णों का वृत्त है ॥ ५ ॥

तत्रादौ गणेशः—

आनीतोऽहमिमाननो मृगपतिं देवैरहो वैरिभिः

किं कुर्यामिति भीतिभंगुरतया संकोच्य तां शुण्डिकाम् ।

कर्णाभ्यां च पिधाय यान्तमचिराल्लम्बोदरं धावतो

भारप्रस्त्रलदुन्दुरोर्निपतितं दृष्ट्वा जहामाच्युतः ॥ ६ ॥

आनीत इति—अहो इति विपादे । अहम् इमाननो गणेशः वैरिभिः देवैः मृग-  
यतिमिमं नृसिंहम् आनीतः प्रापितः । अर्थात् इमे सखिभूताः अपि वैरायमाणा देवा  
मां गजास्यं नृसिंहसमीपे आनीतवन्तः । इदानीमहं किं कुर्याम् किं करवाणि इति  
भीतिभंगुरतया भीत्या भंगुरत्वेन आत्मनस्तां शुण्डिकां करं संकोचं प्रापय्य तं  
च शुण्डिकां निजकर्णाभ्यां पिधायच्छ्राद्य यान्तं मूपिकं निजवाहनमारुह्य गच्छन्तं  
शवतोऽभिधावतः अत एव भारेण गणेशभरेण प्रस्खलतः प्रभ्रश्यत उन्दुरोः  
निजवाहनभूताद् आखोः निपतितं लम्बोदरं गणेशं दृष्ट्वा अच्युतो विष्णुः जहास  
हसितवान् । 'शोके धिगर्धे विपादे दयायाम्' इत्यादिपद्वर्थेषु अहो इत्यव्ययमिति  
शब्दस्तोममहानिधिः । 'उन्दुरुर्मूपिकोऽप्याखुः' इत्यमरः ।

इस अवसर पर सबसे पहले गणेश ने कहाः—

बड़े खेद की बात है कि इन वैरी देवताओं ने मुझ गजानन को सिंह के सामने  
शकर खटा कर दिया। अब क्या करूँ? इस विचार के अनन्तर भय-त्रस्त गणेश ने  
 अपनी शुण्ड को लपेट कर कानों से ढँक लिया और दौड़ाया मूषक को। मार था अधिक,  
 इसलिए उस मूषक में कुछ खलन हुआ और फल स्वरूप लम्बोदर गणेश को नीचे आना  
 पड़ा। इस स्थिति को देखकर भगवान् हंस पड़े ॥

इन्द्रः—SSS ॥S ॥S ॥S SSI SSI S शार्दूलविक्रीटितम् ॥ ६ ॥

अपि च—

विष्णो ? विष्णोः समीपं ब्रज यजनशतैः प्राप्तमिन्द्रत्वमेतद्  
 देवः संयातु पाथःपतिरिति मघवन् ? मेऽस्ति कान्ता नवोढा ।  
 चित्ते वित्तेश ? धैर्यं कुरु मम शिशवो हन्त पश्यन्ति मार्गं  
 वायो ? वायो ! यजत्रप्रिय उरगपतिः पृष्ठतः किं न दृष्टः ॥ ७ ॥

विष्णो इति—गणेश उवाच अथवा देवा ऊचुः । हे विष्णो ? हे इन्द्र ? अत्र  
 विष्णुपदेन इन्द्रव्यपदेशः श्लोकस्य द्वितीये चरणे 'मघवन्' इति सम्बोधनपदात्,  
 'यजनशतैः प्राप्तमिन्द्रत्वमेतद्' इति वाक्याच्च । इन्द्रात्मनो व्यापकत्वं वेदेषु  
 इति विष्णुरिति व्युत्पत्तेराधायकम् । यथा विष्णुर्विकल्पोज्झित इत्यद्वैतसिद्धि-  
 मंगलश्लोके विष्णुपदं गौडब्रह्मानन्देन व्यापकं जीवस्वरूपमित्यर्थकं श्रोगेन  
 व्याख्यातम् । प्रथमस्यापि विष्णुपदस्य पष्ठयन्तत्वे तु सम्भ्रमे द्विरुक्तिः । त्वमेव  
 विष्णोर्नृसिंहस्य समीपं ब्रज गच्छ इत्युक्त इन्द्र आह । मया यजनशतैः शत-  
 संख्याकरश्वमेधैर्महता बलेशेन इन्द्रत्वं इन्द्रपदं लब्धमतस्तद्भ्रंशमिया नृसिंह-  
 समीपं न गच्छामि किन्तु पाथःपतिः पाथसां जलानां, पतिर्देवो वरुण इत्यर्थः,  
 स विष्णुसमीपं संयातु ब्रजतु । तदा स वरुण उवाच हे मघवन् ? हे इन्द्र ? मे  
 मम नवोढा नवपरिणीता कान्ता अस्ति सा मम मार्गं वीक्षमाणा तिष्ठतीत्यर्थः ।

तदा वित्तेशः प्रार्थ्यते । हे वित्तेश ? हे धनाध्यक्ष कुबेर ? त्वमेव वित्तेश मनसि धैर्यं कुरु । त्वमेव मनसि धैर्यमाधाय विष्णोः पार्वमुपयाहि । तदा स धनद उच्ये—  
हन्तेति खेदे । वनेत्यपि । मम शिशवोऽर्मका मे मार्गं परयन्ति । तदा स वायु-  
मूचे । वायो ? हे वायो ? द्विरुक्तिः सम्भ्रमे । सम्भ्रमेण प्रवृत्तौ यथेष्टमनेन्याप्रयोगी  
न्यायमिदं हस्यनुदासनबलात् । त्वमेव विष्णुसमीपं भजेत्युक्तो वायुरचदत् । भो-  
अहमपि जन्तुमध्यः । कारणमाह—किं युष्माभिर्यजत्रप्रियो यजत्रस्य यजमानरूपस्य  
विष्णोः प्रियः उरगपति शेषः पृष्टन विष्णुमुपसेवमानो न दृष्टः, स उरगपति-  
र्मांसशिष्यति । यतो ह्यहं तस्यादानम् ।

[ फिर देवताओं ने कहा— ] हे इन्द्र ! तुम्हीं नृसिंह के पास जाओ । [ इन्द्र ने उत्तर  
दिया — ] मैंने भी यश करके [ बड़े क्लेश से ] इस पद को प्राप्त किया है । अतः जल-  
पति वृष्ण ही उनके पास जायें । [ इस पर वरुण ने उत्तर दिया कि ] हे इन्द्र ! हमारी  
पत्नी अमी नववधू है अर्थात् मैं उसे अमी विवाहोपरान्त लाया हूँ [ वह मेरा रास्ता  
देख रही होती ] । सब लोगों ने वित्तेश कुबेर से प्रार्थना की और कहा, भाई ! तुम्हीं  
वित्त में धैर्य धारण करो [ अर्थात् धैर्य के साथ जाओ ] । इस पर धनद ने उत्तर दिया—  
बड़े क्लेश की बात है कि मेरे छोटे-छोटे बच्चे मेरा रास्ता देखते होंगे । फिर लोगों ने  
कहा—हे वायु ! तुम्हीं विष्णु के पास जाओ । वायु ने उत्तर दिया क्या तुम  
लोगों ने विष्णु के पास उनको सेवा में तत्पर उरगपति को नहीं देखा है ? ( और जब  
देखा है तो जानते ही हो, कि वायु सर्प का मध्य है ) ।

इन्द्रः—SSS S1S S11 111 1SS 1SS 1S सम्भरा ॥ ७ ॥

अपि च—

अग्ने याहि शशाङ्क ? यन्निजवपुःपीयूषतः पोषिता-  
एतावत्समयं मया सुमनसः किं तस्य वैतत्फलम् ।

अग्ने गच्छ पुरो मुखं मरुभुजां युष्माकमेयास्म्यहं

मन्नादो समुपस्थिते किमशनं वक्त्रान्तरान् सेत्स्यति ॥२॥

अग्ने इति—तदा देवा उचुः । हे शशाङ्क ? हे इन्द्र ? अग्ने याहि त्वं विष्णुमुपया-  
हि । तदा स इन्द्रो देवान्प्रत्यभाषत । हे सुमनसः हे देवाः ? मया यत् एतावत्सम-  
यमियन्त कालं वृषं निजवपुःपीयूषतः स्वदारीरामृतकलाभिः पोषिताः पुष्टिं नीताः  
तस्य वा तस्यैव पोषणस्य मह्यम् एतत् फलं प्रदीयते युष्माभिः किम् ? तदा देवा  
अग्निमूचुः । हे अग्ने ? हे वद ! त्वं पुरोऽग्ने गच्छ । तदा अग्निर्देवान्प्रत्यवदत् । भो  
देवाः अहं ( वद्वि ) युष्माकं मरुभुजां देवानां मुखमस्मि । अहमेव युष्माकमुदरे  
स्वाद्यपदार्थान्प्रापयामि । मम नादो उपस्थिते सति किं युष्माकमशनं भोजनं  
वक्त्रान्तरात् अन्यस्मात् मुखेत् सेत्स्यति सम्प्रास्यते ? न सम्प्रास्यते इत्यर्थः ।

सम्पादनाभावे च युष्मन्मरणमेव ध्रुवम् । अतोऽहं न प्रेपणीयः । 'पीयूषममृतं सुधा' इत्यमरः ।

और भीः—

हे चन्द्र ! फिर तुम्हीं उनके समक्ष जाओ । इस पर चन्द्र ने कहा कि क्या जो मैंने अपने शरीर से झरते हुए अमृत को पिला-पिला कर देवताओं को परिपुष्ट किया, उसीका वह फल है ? [ कि तुम देवगण सुखे वहाँ भेज रहे हो ? ] [ अच्छा, फिर ] हे अग्ने ! तुम्हीं सामने जाओ ! [ अग्नि ने उत्तर दिया ] हे देवगण ! मैं ही तो आप लोगों का मुख हूँ ? जब मेरा ही नाश हो जायगा, तब क्या तुम लोग दूसरे मुख से खाओगे ? [ सारांश यह कि तुम लोगों को दूसरा मुख तो है नहीं, जिस से खाओगे ? फल यह होगा कि मेरे मरते ही तुम सब मर जाओगे ] ॥

छन्दः—SSS IIS ISI IIS SSI SSI S शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ८ ॥

अपि च—

धातस्तात् त्वमग्रे भवसि भगवतामग्रणीर्देवतानाम्  
विष्णोः कोपानलोऽयं ज्वलयति च सुराः ? कूर्चपंक्तीः सुदीर्घाः ।  
इत्थं गीर्वाणवाणीमतिकृपणतरां प्रस्त्रलद्वर्णवाक्या-  
माकर्ण्योत्कुल्लगल्लप्रहसितवदनं शार्गिणोऽस्मान्पुनातु ॥ ९ ॥

धातरिति—अग्निरुवाच तात् ? ब्रह्मन् ? भगवतां पूज्यानां देवतानामग्रणीर्धुर्यः त्वमग्रे विष्णोः पुरो भवसि ? इति काका प्रश्नः । सर्वपितृत्वाद्देवाग्रणीत्वाच्च त्वमेव विष्णुसमीपमुपयाहि । आपदिः हि पितरः पुत्रान् पृष्टतः कृत्वा स्वयमेव पुरो भवन्ति पुत्रस्नेहात् । अग्रण्यश्च कार्याकार्यकुशलत्वादनुचरान् इति भावः । इत्थमुक्तो ब्रह्मा आह—हे सुराः विष्णोः अयं कोपानलः मम सुदीर्घा आयताश्रतुर्णमाननानां कूर्चपंक्तीः श्मश्रुपंक्तीः ज्वलयति । इत्थममुना प्रकारेण प्रस्त्रलन्तो वर्णा भयाद्गदस्वरेणोच्चार्यमाणा वर्णा येषु तानि । प्रस्त्रलद्वर्णानि तानि वाक्यानि यस्यां ताम्, अति कृपणतरामतिदीनां गीर्वाणवार्णां देवगिरमाकर्ण्य शार्गिणो नृसिंहस्य उत्फुल्लौ विकसितौ गल्लौ कपोलौ यस्मिन् तत् प्रहसितं वदनं प्रहृष्टं मुखम् अस्मान् नः पुनातु पवित्रयतु । अत्र प्रहसितं वदनमिति असमस्तेन भाव्यं, वदनप्रहासस्य विधेयत्वेन समासाऽयोग्यत्वात् । एवं प्रायोऽत्र चम्प्वामविमृष्टविधेयांशो दोषः प्रस्फुटति ।

'फिर आज ने कहा—हे तात ब्रह्मा ! तुम पूजनीय देवां में अग्रगण्य हो, अतः तुम्हीं विष्णु के समक्ष जाओ । क्यों ? ब्रह्मा ने उत्तर दिया—हे देवगण ! यह क्रोधाग्नि मेरी लम्बी चौड़ी दाढ़ी-मूँछ को जला रही है—इस प्रकार उक्त अर्थ से भरी हुई भयवश प्रस्त्रलनशील तथा दैन्यपूर्ण विधाता की वाणी को सुनकर भगवान् के विहसित कपोलों वाला वदन हम सब को पवित्र करे ॥

छन्दः—SSS SIS SII III ISS ISS ISS स्रग्धरा ॥ ९ ॥



अथ महर्षेऽपि—

अहो ! साम्प्रतमस्माभिविचारितमेक जीवन्वीजम् । तच्छृणुत सर्वे महर्षय । नरहरिकोपकृशानुना प्रवृत्तेऽपि कल्पान्ते तत्कृपापात्रस्य प्रह्लादस्य नैव नाशशकारुलकाप्रकाश स्यादतो वयमपि सद्य कूर्चाभय सम्पाद्य निरस्तसमस्तोत्तरीयवसना सद्य किशोरदशामवलम्ब्य सर्वेऽपि प्रह्लाद एव भवाम । किं परस्परप्रार्थनाव्यर्थप्रयासेन । अपरे तु प्रह्लादमनुन्नय तमिति प्रार्थयन् तात ? त्वदर्थमेतावाननर्थस्त्वयैव निवार्यता मन्यथैक सधित्सितोऽपर प्रच्यवत इति न्यायात् श्रेयसाधनाय नृहरि सेवमानस्य सर्वभूतोपप्लवोत्पन्नहिंसाननितप्रत्ययायो दुष्कर एव, अपय श सागरोऽपि सुतरा दुस्तर स्यात् । अथोपकुर्याण भवन्त वैधव्यभीता अस्मत्कुटुम्बिन्य परमाशीर्भि प्रत्युपकरिष्यन्ति । तेनोभयमपि यशस्कर मेव स्यात् । इति हास्यरस ।

अहो इति—अहो इति दुःखम् । साम्प्रतमनुना अस्माभिरेव जीवन्वीज जीवन धारणस्यादिमूलमुपायो वा विचारित चिन्तितम् । तत्कारणमुपाय वा त सर्वे युय महर्षय शृणुत आकर्णयत । नृहरेर्नृमिहस्य श्रीविष्णो कोप क्रोध एव कृशानुरनलस्तेन प्रवृत्ते प्रारब्धेऽपि कल्पान्ते प्रलय तत्कृपापात्रस्य तदनुकम्पा भावनस्य प्रह्लादस्य न कदापि नाशस्य मरणस्य शका भय सर्व कलंक दुर्बला कारणे कार्यतादात्म्यारोप । तस्य अवज्ञाश्च अवसर स्यात् । अतो हेतो वय मपि सर्व सद्यो क्षणिति कृचामय कृचानामभय शौरिकर्मणा यदनादपनीयान्यत्र स्थापनेनेति रूप । सम्पाद्य कृत्वा, स्वान् कृचानपनीयेत्यर्थ, निरस्तानि अपनी तानि समस्तानि उत्तरीयवसनानि उपरिधारणवस्त्राणि यस्ते मन्तो वय सद्य तत्कालमेव कृचात्तरीयवसनापनयनसमकालमेव किशोरदशा कौमारमवलम्ब्या श्रित्य सर्वेऽपि वयमिह प्रह्लादमदशा एव भवाम । परस्पर मिथ प्रार्थनायाः प्रेरणाया व्यर्थेन प्रयासेन किं को लाभ न कोऽपि इत्यर्थ ।

अपरे तु इतरे तु केचन महर्षय प्रह्लादमनुन्नयोपगम्य तमिति वक्ष्यमाण-प्रकारेण प्रार्थयन् प्रार्थयामामु । किं तत् प्राधनमिति आह तातेति । तात ? त्वदर्थं स्वकृते विष्णुना कृतोऽयमेतावान् इयाननर्थ । त्वयैव निवार्यतामपक्रिय ताम् । अन्यथा नो चेत् एव सधिसत सन्धातुमिच्छन् पुन अपर प्रत्यवन्ते अरयन्ति इति न्यायादाभगकात्, श्रेयसाधनाय अपवर्गमागममिलयतोऽत एव च नृहरि श्रीविष्णु सेवमानस्य तव, सर्वभूतति सर्वथा भूतानामुपप्लवेन उपद्रव्य हेतुना उत्पन्नया हिंसया जनित उत्पादित प्रत्ययाय एव दुष्कर एव तत्तुम्-

शक्य एव । अपि च अपयशःसागरः अकीर्तिसमुद्रो दुस्तरः स्यात् । अथेति  
पदान्तरपरिग्रहे । एवमस्मानुपकुर्वाणमुपकुर्वन्तं भवन्तं वैषम्यात् भीतास्त्रस्ता  
वस्माकं कुटुम्बिन्यः भार्या अपि परमतिशयेन आशीभिराशीर्वादैः त्वां प्रत्युपकरि-  
ष्यन्ति । तेन इत्यमुभयमपि उपकारप्रत्युपकारद्वयमपि यशस्करं कीर्तिकरं सम्प-  
त्स्यते । इति हास्यरसोऽवसितः ।

अत्र प्रवन्द्ये समुपवर्णित-विकृताकारवाक्चेष्टा गणेशाद्या देवा आलम्बनवि-  
भावरूपा हास्यरसस्य । तेषां शुण्डिकासंकौचनाच्छादनविकृतवाक्प्रयोगाद्य उद्दी-  
पनविभावाः । आकर्ण्योत्कुल्लगल्लमित्युत्कुल्लगल्लत्वमनुभावः । अत्र वर्णितं देवानां  
नृसिंहाद् भयं व्यभिचारिभावः । अन्येऽपि सम्भविनोऽनुभावादय ऊह्याः ।

फिर तो महर्षियों ने भी:—[ कहा ]

अहो ! सम्प्रति हमलोगों ने जीवन को सुरक्षित रखने का एक उपाय सोन रक्खा  
है । तो उसको आप सब महर्षिजन चुनें । नृसिंह की क्रोधाग्निवश प्रलयकाल उपस्थित  
हो जाने पर भी उनके कृपापात्र प्रह्लाद के नाश की तो कोई आशङ्का है नहीं । अतः  
हम सब भी तुरंत दाढ़ी एवं उत्तरीय का परित्याग कर किशोरावस्था का सहारा लेकर  
प्रह्लाद ही बन जायें । परस्पर एक दूसरे की निरर्थक प्रार्थना क्यों करें ? दूसरे लोगों  
ने तो प्रह्लाद का अनुगमन कर उनसे यही प्रार्थना की—तुम्हारे ही लिए इतना अनर्थ  
हो रहा है, तुम्हीं उसका निवारण करो, अन्यथा 'एकं सन्धित्ततः अपरं प्रच्यवते' इस  
न्याय से [ अर्थात् एक ही बनाने की इच्छा रखने वाले का दूसरा विगड़ जाता है ]  
परमपुरुषार्थ की सिद्धि के लिए हरि को उपासना करते हुए तुम्हें निश्चिन्त प्राणियों की  
हिंसा का दुष्कर प्रत्यवाय तो लगेगा ही, साथ ही अपयश-सागर भी तुम्हारे लिये दुस्तर  
हो जायगा । दूसरे यह कि यदि तुमने [ हम लोगों की प्रार्थना को कार्यान्वित कर ]  
उपकार किया, तो [ इसका फल यह होगा कि ] भावी वैधव्य से भीत हम सब की पत्नियों  
तुम्हें आशीर्वाद से उपकृत करेंगीं ।

अथ करुणरसः—

हन्ताहं तावदज्ञस्तव चरणकृपापात्रमात्रं मुरारे

हन्ताहन्तासि दन्तावलनिबह्वलस्यापि शत्रोस्त्वमेव ।

पित्रापि त्रासितं मां प्रभवति भवतः कोऽपरस्त्रातुमुच्चै-

लोकालोकाग्रभानुर्न भवति यदि तत् केन जीवेत् त्रिलोकी ॥१०॥

हन्तेति—हे मुरारे ? हे नृसिंह ? अहं तावदज्ञः सन्दधीः त्वां स्वरूपतो ज्ञानु-  
भक्त इत्यर्थः । किन्तु तव चरणयोः कृपाया एकमात्रं पात्रमस्मि । हे नृसिंह ?  
हन्तेति हर्षं दन्तावलानां हस्तिनां निवहः समूहः तस्य बलं यस्य तस्य अपरि-  
मितकरिवलधारिण इत्यर्थः । शत्रोः नम पितुर्हिरण्यकशिपोरपि त्वमेव आहन्ताः ।

अतिदायन नाशयिता अग्नि विद्यमे । पित्रा जनकेनापि ग्रामितमुत्पीडित मा भवत  
 अपर, स्वदते ह्ययर्थ । क उच्चै भ्रातु रक्षितु प्रभवति क्षमते । लोकैर्विप्रासित  
 पिता रक्षति पित्रापि ग्रामित मा स्वदपर को रक्षदिति भाव । यदि लोफालोकस्य  
 पर्वतविशेषस्य अग्रमानुनं भवति न स्यात् तत्तर्हि कन अपरेण जीवनाधारेण त्रिलोकी  
 भुवनत्रय जावत् प्राण्यात् । 'दन्ती दन्तावलो हस्ती' इत्यमर । भवतोऽपर ह्ययत्र  
 'अन्यारात्रितरतं दिक्' इति पञ्चमी । अन्य-यर्थग्रहणात् ।

सम्प्रति, कण्ठरसपर एव न प्रारम्भ करने जा रह है —

एत वी वान है कि मैं तो अत्यन्त अन्न च्यक्ति हू, इ मुरारे । मैं तो कुछ हू वह  
 के कन् तुम्हारे चरणों की कृपामात्र । ह देव । अनेकानेक हाथियों के से कण्ठाली  
 हिरण्यशिशु का हनन तुमने ही तो किया । [ जो पिता मव से रक्षा करता है ] उस  
 पिता ने भी जब मुझे पस्त कर दिया, तो उसम बचाने में आप की अपेक्षा दूसरा ऐसा  
 कौन था, जो अच्छी प्रकार मेरी रक्षा कर सकता था ?

छन्द—ऽऽऽ ऽऽ ऽ । । । ऽऽ ऽ । ऽऽ स्रग्भरा ॥ १० ॥

अपि च—

निर्माता त्व च माता त्वमसि मम पिता त्व च नेता विनेता

भ्राता प्राता सखा त्व ममसि नरहरे ? त्व निधिर्देवता वा ।

मुक्तिर्मुक्तिरिरेक्तिर्मम विशदयश प्राज्यसाम्राज्ययोग्य

भाग्य सौभाग्ययुक्त किमु वचनचयैस्त्व ममात्मा परात्मा ॥ ११ ॥

निर्मातेति—हे नृसिंह ? त्व मम निर्माता रक्षयिताऽसि । त्व माता जनन्यपि  
 स्वमेवासि । मम पिता, नेता निवाहक सर्वकार्यनिवाहक इत्यर्थ । विनेता शिष्य  
 कश्च स्वमेवासि । त्व मे भ्राता, भ्राता रक्षक, सखा मित्र, त्व मुक्तिरूपमोग,  
 मुक्तिरपवर्ग, विरक्तिर्वैराग्य, प्राज्यस्यातिविस्तृतस्य साम्राज्यस्य योग्यमनुकूल  
 विशद च तद् यश इति विशदयशो विपुला कीर्ति स्वमेवामि । सौभाग्येन युक्त  
 सहित भाग्य भागधय स्वमेवामि । हे नृसिंह ? एवविधं वचनचयैर्वाक्यसमूहं  
 भाषणसमूहंवा किं, न किञ्चिन् साध्यमित्यर्थ । स्वमेव मे परात्मासि स्वमेव च मे  
 आत्मा अन्तरात्माऽसि । मम सर्व स्वमेवासीनि भाव । 'स्वमेव माता च पिता  
 स्वमेव स्वमेव यन्मुश्च सखा स्वमेव । स्वमेव विद्या ऋषिण स्वमेव स्वमेव सर्व मम  
 दवेदेष' इत्यर्थ । नेता 'प्रभौ, निवाहकं, नायकं, प्रवर्तकं, प्राक्कं च' इति शब्द  
 स्तोममहानिधि । 'मुक्तिर्भोगे भोजन च' इति च । 'निधिर्ना शेषधि' इत्यमर ।

हे नृसिंह ! तुम मेरे निर्माता, माता, पिता, नेता, विनेता, भ्राता, रक्षक, सखा,  
 सन्धि, वान देव भी हो । हे देव ! तुम मेरी मुक्ति, मुक्ति वैराग्य, विशाल साम्राज्य योग्य,

माग्य एवं सौभाग्य सब हो, अधिक वाग्विस्तार क्या करें, तुम मेरी अन्तरात्मा तथा परात्मा हो ।

छन्दः—SSS SIS SII III ISS ISS ISS स्रग्धरा ॥ ११ ॥

अथ देवः—

कीलाले क्लेदितोऽसि प्रथममथ पुनर्मुग्धदग्धोऽसि वहा-  
वुत्पातैर्घात-पातैरतिविषम-विपैर्दन्दशूकादि-दंशैः ।

मद्द्वेषात्क्लेशितस्त्वं शिशुहननकृताऽनेन पापीयसा यत्

तत्सोढा मन्निमित्तं भुवि भवति तदानृण्यमेतच्छिशोः किम् ॥१२॥

कीलाल इति—अथानन्तरं पुनर्देव उवाच । हे पुत्र प्रह्लाद ! शिशुहननकृता-  
वालघातकेनानेन पापीयसा पापिना दैत्येन मद्द्वेषात् मह्यं द्रुह्यता यतस्त्वं मद्भ-  
क्तोऽसीत्यतस्त्वं विविधैः प्रकारैः क्लेशितः क्लेशं प्रापितोऽसि । तथा हि—प्रथमं  
कीलाले जले क्लेदितः, अथ पुनः हे मुग्ध सुन्दर ! प्रह्लाद ! वहाँ दग्धोऽसि ।  
उत्पातैरूपद्रवैः, घाताश्च पाताश्च तैर्घातपातैः, घातैरस्यादिना हननैः, पातैः पर्व-  
तादैः पातनैः, अतिविषमविपैः अतिविषममत्स्युग्रं विषं गरलं येषां तैर्दन्दशूकादि-  
दंशैः दन्दशूकादीनां सर्पादीनां दंशैः दशनैः क्लेशितः पीडितोऽसि । 'दन्दशूको  
विलेशयः । उरगः पन्नगो भोगी' इत्यमरः । तदेतत् सर्वं हे प्रह्लाद ! त्वं मन्निमित्तं  
मत्कारणात् मद्भक्तिकारणात् सोढा सोढवानसि । तत् तस्माद् एतद् हिण्यकशिपु-  
वधादिरूपं मन्त्रेष्टितं शिशोस्तव आनृण्यं भुवि भवति किं, नैवं भवतीत्यर्थः ।  
'मुग्धो मूढे सुन्दरे च' इति शब्दस्तोममहानिधिः । 'कीलालममृतं जलम्' इत्य-  
मरः । 'अजन्यं क्लीवमुत्पातः उपगर्गः समं त्रयम्' इत्यमरः । सोढा इति 'ष्वुल्ल-  
चौ' इति पाणिनिसूत्रेण सहेः कर्तरि वृचि रूपम् ।

फिर स्वयं नृसिंह देव ने कहाः—

हे पुत्र प्रह्लाद ! शिशु की हत्या करने वाले इस पापी ने जो तुम्हें क्लेश दिया, वह  
केवल इसलिए कि तुम मेरे भक्त हो और तुमने भी इसी लिए उन क्लेशों को सहा कि ये  
क्लेश भगवान् के लिए सहना पड़ रहा है, ऐसी स्थिति में तुम्हीं कहो कि जो कुछ  
तुम्हारा भक्ति-ऋण है, उसका अपहार किसी साधन से हो सकता है ? देखो, उस पापी  
ने तुम्हें जलक्लित्त किया, हे मुग्ध (मोले वालक) । फिर तुम वहि में जलाये गए ।  
इसी प्रकार विभिन्न उपद्रवों, प्रहारों, शिखर-पानन, एवं अति दारुण विष के प्रयोगों से  
तुम सताए गए, इतना ही नहीं सपों के दंशों से भी तुम पीडित किए गए ॥

छन्दः—SSS SIS SII III ISS ISS ISS स्रग्धरा ॥१२॥

अपि च—

प्रह्लाद तात किमदेयमिहास्ति तुभ्यम्

आत्मानमर्पितवतोऽपि समास्ति लज्जा ।

उक्त्वेत्यसौ रसनया परिलेह्यमानः

शान्तिं जगाम करुणावक्रुणालयेन ॥ १३ ॥

प्रह्लादेति—हे तात प्रह्लाद ! इह जगति तुभ्य किमदेयमस्ति । एवं सकलस्य वस्तुजातस्य भाजनमसि जात एनेन मदनुरागेण, आत्मान एवमर्पितवतो दत्त-वतोऽपि मम लज्जैवास्ति । अर्थात् हे प्रह्लाद ! यद्यपि त्वद्भवत्प्राप्तिगुणोऽहं तुभ्यं स्वमेवार्पितवानस्मि तथापि त्वद्भक्तेतेनापि अहमनृणो न जातोऽस्मीति, अत एवैय लज्जा मा त्रिपुरयति इति भावः । करुणावक्रुणालयेन दयासमुद्रेण श्रीनृसिं-हेन इत्युक्त्वा इत्थं गदित्वा वात्सल्येन रसनया जिह्वया परिलेह्यमानः असौ प्रह्लादः शान्तिं शमं जगाम प्रायः ।

और भी—

हे तात प्रह्लाद ! इस सभार में तुम्हारे लिये क्या अदेय है ? यदि मैं तुम्हें अपने आप को भी मर्पित करूँ, तो भी मुझे [ तुम्हारी भक्ति को देखकर ] लज्जा या सङ्कोच का ही अनुभव होता है । इस प्रकार कहकर वह करुणावक्रुणालय नृसिंहदेव वात्मन्व्य के आवेश में प्रह्लाद को अपनी जिह्वा से चाटने लगे और इस स्पर्श अथवा वात्मन्व्य के कारण प्रह्लाद भी नितान्त मुग्ध हुए ॥

छन्दः—ऽऽ। ऽ।।।।। ऽऽ वसन्ततिलका ॥ १३ ॥

गृहनिबद्धशिशवस्तृणोपजीविनः पशवोऽपि स्नेहार्द्रचित्ताः स्वाहारं परिहाय सत्वरमेव गृहमागत्य वात्सल्येन वत्सानपि निम्नयन्ति । किं च गृहेशं वञ्चयित्वा पाययन्ति च । तथा पक्षिणोऽपि चंचूपटसंगृहीतकवलान् तरुश्विरोविहितनीडनिहितशिशूनां मुखेऽर्पयन्ति । तथा केऽपि दयालवः पुमांसः परकीयपाकानवलोक्य दोर्भ्यामालिङ्ग्य मुसमाचुम्ब्य लालयन्ति । परन्त्वस्य बालघातिनः कपटपटीयसः पापीयसो नैष्टुर्यमलौकिक-मयलोकितम् । आश्रयपरित्यागलक्षणदोषदूषितत्वात् पुत्रस्य पित्राऽस्य-मार्गोऽद्वेषि इति चेत् तदुत्पन्नमात्रापस्मारादिदोषोपहतयालाः पितृभिः किं न निहन्यन्ते इति ।

गृहेति—किं च, हे प्रह्लाद ! गृहे निजसदने निबद्धा प्रतिबद्धाः रज्जवा-दिना इत्यर्थः । शिशवोऽर्भका वग्मा इत्यर्थः । येषां ते तृणोपजीविनः तृण-रुपजीवन्ति तरुश्वीलाः स्नेहेन प्रेम्णा आर्द्रं खिग्वं विलम्बं चित्तं चेतो येषां ते पशवोऽपि गवाद्योऽपि स्वाहारं परिषय्य स्पर्शं सतिष्येव घनाद् गृहमागत्य वात्सल्येन वरमलतया निजवग्मान् अर्भकान् अपि निम्नयन्ति निम्नान् कुर्यन्ति । वात्सल्येन स्वयं वसायत्ताः सन्तो वग्मानपि यात्सल्येन स्वायत्तान् कुर्वन्तीत्यर्थः ।

‘अधीनो निम्न आयत्तोऽस्वच्छन्दो गृह्यकोऽप्यसौ’ इत्यमरः । गृहेशं गृहस्वामिन् वञ्चयित्वा प्रतार्य स्ववत्सान् पयः पाययन्ति चेत्पर्यः ।

तथा—तथैव पक्षिणोऽपि विहगा अपि चंचूपुटैः निजतुण्डैः संगृहीता आनीताश्च ते कवला ग्रासाश्च इति तान् । अत्र ‘चंचूपुटसंगृहीतान् कवलान्’ इति व्यासेन पाठ्यम् । कवलसंग्रहस्य विधेयत्वात् । अन्यथा बहुव्रीह्यर्थावगमादनिष्टप्रसक्तिः । तरुणां वृक्षाणां शिरस्सु शिखरेषु विहितेषु कृतेषु नीडेषु कुलायेषु निहितानां घृतानां (स्व) शिशूनाम् अर्भकाणां मुखे आनने अर्पयन्ति ददति, तरुशिखरेषु स्वनीडेषु घृतान् स्वार्भकान् चञ्चूपुटैरितस्ततोऽन्नकणादि आनीय तेभ्योऽर्पयित्वा तान् पुष्यन्तीत्यर्थः । तथा केऽपि विरला इत्यर्थः, दयालवः दयार्द्रचित्ताः पुमांसः पुरुषाः परकीयान् स्वेतरान् पाकानर्मकानवलोक्य दोर्म्यां भुजाभ्यामालिङ्ग्याशिलप्य मुखं तेषामाननमात्रुष्यं चुम्बयित्वा लालयन्ति लाडनं कुर्वन्ति । किन्तु अस्य सुरारोहिर्यकशिपोस्तु अलौकिकं विलक्षणं नैष्ठुर्यं क्रौर्यमवलोकितं दृष्टम् । कीदृशस्यास्य हिरण्यकशिपोरित्याकांक्षायामाह—वालघातिनः स्वार्भकहत्याकारिणः, कपटेषु पटीयसः पटुतरस्य कुशलतरस्येत्यर्थः । पापीयसोऽतिपापकारिणः । आश्रयस्य स्वपितुर्मांसस्य परित्यागलक्षणः परिहाणलक्षणो यो द्रोपोऽपराधः तेन दूषितत्वात् आगस्कृत्त्रादित्यर्थः, तेन दैत्याधिपेन पित्रा जनकेनापि सता पुत्रस्य निजापत्यस्य प्रह्लादस्य अस्वमार्गः प्रह्लादस्त्रीकृतनिजेतरमार्ग एव अद्वेषि दिद्विषे । न तु प्रह्लादोऽद्वेषि इति चेदुच्येत, तदप्यसत्, यतः तदुत्पन्नेति । तस्मात् पितुः उत्पन्नमात्रश्चासौ अपस्मारादिद्रोपरूपहतश्चेति तदुत्पन्नमात्रापस्मारादिद्रोषोपहतः स चासौ चालश्चेति । अर्थात् यदि कस्यचित् पुत्रः कश्चिज्जायमान एवार्भकः अपस्मारादि (भृगी इत्यादि) द्रोषैः (रोगैः) उपहन्येत परिगृह्येत तदा किम् ईदृशो वालः पितृभिर्निहन्यते, न निहन्यते इति दैत्येन्द्रेण प्रह्लादं विलम्बताऽतितरा-मागोऽकारीति भावः । ‘भुजवाहू प्रवेष्टो द्रोः’ इत्यमरः । ‘पोतः पाकोऽर्भकः डिम्भः’ इत्यमरः । अपस्मार इति अपगतः स्मारः स्मरणं यस्मात् (मिरगी) इति ख्यातो रोगभेदः । एतस्मिन् रोगे जाते रोगिणः सर्वविषयस्मृतिर्नश्यति ।

और भी—

तृण खाकर जीने वाले पशु भी, जिनके बच्चे उनसे पृथक् करके घर में बाँधे हुए हैं, सदैव स्नेह-पूरित विच हो अपने भोजन का परित्याग कर शीघ्र ही गृह को लौट आते हैं और वात्सल्य के द्वारा अपने बच्चों को वशीभूत कर लेते हैं; यही नहीं गृहस्वामी को ठगकर उन्हें अवशिष्ट दूध भी पिलाते हैं। इसी प्रकार पक्षिण भी अपने अपने चंचूपुट में ग्रासों को संगृहीत कर वृक्ष के शिरोभाग में निर्मित नीड (घोंसला) में पड़े हुए बच्चों के मुख में अर्पित करते हैं। तथा कुछ दयालु लोग परकीय दिशुर्बों को देखकर अपनी भुजाओं से उनका आलिङ्गन कर लेते हैं और मुख चूम चूम कर उन्हें।

दुलारने है । परन्तु इस कपट-पट्ट बालहृत्यारे पापी के नैष्ठुर्य को मने अलौकिक ही देना । पिता के आचरित मार्ग का परित्याग ही दोष था और उससे दूषित होने के कारण परकीय मार्ग का विरोध हिरण्यकशिपु ने किया, न कि प्रह्लाद का, तो यह तर्क भी सर्वथा हृदयङ्गम नहीं होता । कारण यह है कि अपना पुत्र अपम्मार आदि से ग्रस्त हो जाय तो क्या बह मात दारा जाता है ?

दीर्घायुर्भव विक्रमी भव भव श्रोणीशचूडामणिर्

लोकान् पालय वत्स । लालय सुतान् शश्वद्यशस्वी भव ।

नित्यं मच्चरणारप्रिन्दयुगलध्यानावधानक्षण-

प्रोद्भूते प्रशमोपपन्न-परमानन्दे निमग्नो भव ॥ १४ ॥

दीर्घायुरिति—दीर्घं चिरमायुर्यस्य स दीर्घायुः चिरायुर्भव । हे प्रह्लाद ? त्वं दीर्घायुरेधि । विक्रमी पराक्रमी भव, श्रोणीशानां पृथ्वीशानां चूडामणिरप्रणी-  
भव । त्वच्चक्रवर्ती सम्राट् भवेत्यर्थः । हे वत्स ? प्रह्लाद ! त्वं लोकान् पालय, सुतान् स्वपुत्रान् लालय, त्वं पुत्रपौत्रान् भवेत्यर्थः । शश्वद् याचञ्चन्द्रदिवा-  
करी यशस्वी भव । किं च हे प्रह्लाद ! एष भाग्य-श्रीभाग्ययुक्तस्त्व मम चरणार-  
विन्दयोः मत्पादपद्मयोः युगलस्य युगस्य ध्यानाय यद्वधानं मनस एकाग्रता-  
पादन तत्त्वणे प्रोद्भूतः सजातः यः प्रशमः शान्तिः, ( आन्तरिकी शान्तिरित्यर्थः )  
तेन उपपन्ने उपनते परमानन्दे अतिनायितत्रिदशममृदिसुखे सर्वोन्मृष्टे रमे  
निमग्नः भव । 'चौण्डिज्यां काश्यपी स्थितिः' इत्यमरः ।

अत्र प्रयन्धे दुर्दशाग्रस्तः शोच्यः प्रह्लादः आलम्बनविभावः । तस्य घात-  
पात-दन्दशूकदंशन-दाहादय उद्दीपनविभावाः । स्वानुतापध्यक्षकानि 'कालाले  
कलेदितोऽसि' इत्यादीनि आशीर्वादपरागि चान्यानि भगवद्वाचयानि अनुभावा,  
रशनया परिलेहन च । कर्णगया परिलेह्यमान इत्युक्ता कर्णा-  
'आग्मानमपितवतो-  
ऽपि ममास्ति लज्जा' इति लज्जा अन्येऽपि च विपादादय उल्लेख्याः सञ्चारिभावाः ।  
पृभिरमिन्वक्षः प्रह्लादविषयको भगवतः शोकः सामाजिकैः करुणरमन्वेनास्वाघते ।

हे पुत्र प्रह्लाद ! त्वं दीर्घायु हो, पराक्रमी हो; पृथ्वी में सर्वोच्च हो और लोकों का  
पालन करो । हे वत्स ! अपने पुत्रों का लालन करो और शश्वत् यशस्वी बनो  
नित्य प्रति मेरे चरणारविन्दों के ध्यान के लिए जो तुम्हें निश्च की पद्माग्रता के समय प्राप्त  
शान्तिवश सर्वानन्द आनन्द में निमग्न रहा करो ।

ध्रुन्द — ५५५ ॥ ५ ॥ ५५ ॥ ५५ ॥ ५५ ॥ ५५ ॥ ५५ ॥ ५५ ॥ ५५ ॥ ५५ ॥ ५५ ॥

नेदुर्दुन्दुभवो दिपि प्रतिरपैरनिन्दसान्द्रं नभः ।

पुपैर्नानिषामिनोऽपि वृषुपिद्याधराः मंजगुः ।

प्रह्लादेऽधिकभाग्यभाजि निभृतं प्राप्रमसाटे हरेर्

अस्तौपीत सुरमिद्ध-चारणमणः श्रीमन्मृत्निहं प्रभुम् ॥ १५ ॥

नेदुरिति—प्रहादे हरेर्नृसिंहस्य सकाशात् निभृतं निःशब्दं प्राप्तप्रसादे प्राप्तः लब्धः प्रसादोऽनुग्रहो येन तस्मिन् आशीर्वाद्वाक्यप्रयोगं विना नृहरेः संकल्पेनैव लब्धानुग्रहे इत्यर्थः । अतएव अधिकं निरतिशयं भाग्यं भजते इति तस्मिन् (प्रहादे) जाते सुराणां देवानां सिद्धानां देवविशेषाणां चारणानां कुशीलवानां च गणो वृन्दं श्रीमन्नृसिंहं प्रभुं नारायणम् अरतौपीत् तुष्टाव । किं च तदवसरे दिवि दुन्दुभयः भेर्यः नेदुः अनदन्, प्रतिरवैस्तत्प्रतिध्वनिभिः नभो व्योम आनन्दसान्द्रं घनानन्दम् अभवदिति शेषः । नाकनिवासिनो दिवौकसोऽपि पुष्पैः प्रसूनैः ववृषुः अवाकिरन् नृसिंहमिति शेषः । विद्याधराः देवविशेषाः संजगुः गायन्ति स्म । 'कै गै शब्दे' इति धातोर्लिटि रूपम् । ववृषुरिति 'वृष सेचने' इति धातोर्लिटि रूपम् । धातूनामनेकार्थत्वेनार्थनिर्देशस्योपलक्षणत्वेन चात्रावकिरणमित्यर्थः ।

प्रहादे ने जब चुपचाप भगवान् का प्रसाद प्राप्त कर लिया और जब वे निरतिशय भाग्यशाली होगए, तब स्वर्ग में दुन्दुभियाँ वज उठीं और उनकी प्रतिध्वनि से सारा आकाश आनन्द लहरी से व्याप्त हो उठा—स्वर्गवासियों ने पुष्प-वृष्टि की; विद्याधरों ने गान किया । सुर, सिद्ध, एवं चारण लोगों ने प्रभु नृसिंह का स्तवन किया ॥

छन्दः—SSS IIS ISI IIS SSI SSI S शार्दूलविक्रीडितम् ॥ १५ ॥

तत्र प्रथमं सुरगुरुः युग्मेन नृहरेः कीर्तिं वर्णयति—

कीर्ते ! त्रैलोक्यमूर्तेर्मम चरणभवा स्वर्धुनीयं धुनीते  
सद्यः सन्तापमन्तः कलिकलिलमलं मञ्जनान्मञ्जनानाम्  
आविर्भूता प्रभूता प्रभुवर भवतश्चक्रपाणेस्तु पाणे-  
लोकः शोकं विधुंक्ते सकृदकृतकृतिर्मत्समाकर्णनेन ॥ १६ ॥  
हस्तन्यस्ता विधात्रा सततमिह शिरोभूषणं याति शान्त्यै  
शम्भोरम्भो यदीयं सलिलभवशुषः कर्णवासः शिवस्य ।  
भाले वालेन्दुरास्ते निभृतमिति हरेर्जाह्ववीपक्षपातं  
दृष्ट्वा रुष्टेव कीर्तिस्त्रिभुवनजठराद् दूरदेशं जगाम ॥ १७ ॥

कीर्तिं वर्णयंतोनि—कीर्तिर्भगवतोः परस्परमुक्तिप्रत्युक्तिभ्यामिति शेषः । तत्र पूर्वं कीर्तिं प्रति भगवद्वाक्यं गङ्गास्तुतिपरम् । हे कीर्ते ! त्रैलोक्यमूर्तेर्मम चरणभवेयं स्वर्धुनी । त्रैलोक्यमूर्तित्वेन गङ्गाया मच्चरणभवत्वमुपपद्यते इति भावः । मञ्जनात् स्नानात्, मञ्जनानां मञ्जक्तानाम् । कलिकलिलमलम् कलिगहनपापम् अन्तःसन्तापञ्च सद्यो ह्यदिति धुनीते निरस्यति । ततः कीर्तिराह—हे प्रभुवर ! अहं



घञ्प्रपाणेर्भवत् पाणेशविर्भूता जाता प्रभूता गङ्गातो त्रियुला च । अय भाव —  
 खड्गादिप्रभवा कीर्तिरित्यभ्युपगमाद्दह भवत् पाणिस्थितचक्राज्जातेति पाणि-  
 जाता गङ्गा तु पादनाताऽह प्रभूता महती गङ्गा तु मदपेक्षयाल्पेति गङ्गां मधैव  
 प्रशशासेति । किञ्च मकृत् एकवारमपि अकृतकृति' अकृत किञ्चिद्व्यक्तोऽपि  
 लोक । सकृदिति मत्स्यमाकर्णनेनेत्यनेन वाऽन्वति । मत्स्यमाकर्णनेन मत्पूषणेन  
 शोक त्रियुद्धत्ते स्वतो त्रियुक्त करोति । गङ्गाया सतापकृत्स्नमलनामकत्व मज्जन  
 रूपपुरुषव्यापारसापेक्ष मम तु लोकशोकवियोजकत्व पुरुषप्रयत्ननिरपेक्ष श्रवण-  
 मात्रप्रयुक्तमिति मम गङ्गातो वैशिष्ट्यमिति भाव । ततो भगवान् पुनराह—  
 विधात्रा जगतस्रष्टा ब्रह्मणाऽपि गङ्गासदृशीं सृष्टिं कर्तुं शक्तो न गङ्गाम् । हस्त-  
 न्यस्ता—हस्ते कमण्डलौ न्यस्ता । किञ्च या गङ्गा इह लोके सतत शम्भो-  
 शिरोभूषणम् । किञ्च यदीय गङ्गासम्प्रधि अम्भो जल मलिलमवशुष सलिल-  
 भवेत् कालकृटेन शुष्यत शम्भो शान्त्यै याति प्रभवतीत्यर्थ । इत्थं भगवद्-  
 घाक्षयमाकर्ण्य कीर्तिर्मनमि निभृत नि'शब्द विचारितवती न तु भगवन्त प्रत्यु-  
 च्चवती रोपात् । मम शिवस्य कर्णवास । सतत मां शिव' स्पृहया शृणोतीति  
 भाव । अन्यद्य मत्स्वरूपभूतो बालन्दु सतत शिवस्य भाले अस्ति । एव शिव  
 शिर स्थितामिव मामय न पश्यति तत्रत्या गङ्गां तु परयति इति निभृत हरे-  
 जाँहृषीपक्षपात हृष्टा विचार्य न्त परमनुवया रष्टेय कीर्तिं त्रिभुवनजत्राद्  
 त्रैलोक्यमभ्याद् दूरदेश जगाम ॥ त्रैलोक्यमूतर्विष्णो स्वरूप सनिधिपरिजिहीर्षं  
 यैवति भाव । त्रैलोक्यादपि अधिक्रद्दशव्यापिनो तव कीर्तिरिति भणितम् ।

उत्तमं सबसे पहल सुखरु ने दो दृगोको से नहरि को कीर्ति गार—

[ कीर्ति के प्रति भगवान् का पहल पहल गङ्गास्तुतिपरक वाक्य है ]

हे कीर्ति ! मुझ त्रिलोकात्मा के चरणों से उत्पन्न हुए यह गङ्गा स्नान के पत्स्वरूप  
 मनुष्यों के आन्तरिक सनाप एव बलिबाल के गहन पापों को अद्विलम्ब नष्ट कर देती  
 है । [ यह सुनकर कीर्ति कहती है— ] हे प्रसन्न ! मैं तो चक्रपाणि विष्णु के पाणि से  
 ( पराक्रमवश ) उत्पन्न हुए हूँ और गंगा से वहाँ बही हूँ । दूसरी बात यह है कि कोई एक  
 बार भी बिना किमा शारीरिक या मानसिक यत्न के मेरा श्रवण कर ले तो निश्चित  
 ही वह ज्ञानमुक्त हो जाता है ।

अलंकार — न्यतिरेक । छन्द—ऽऽऽ ऽऽऽ ऽऽ ॥ १५ ॥

[ भगवान् ने फिर कहा— ] देखो, इस गंगा को ब्रह्मा ने हस्तगत' कमण्डलु में  
 धारण कर रखा है, और हम समार में वह सदैव शिव का शिरोभूषण बनी हुई है ।  
 शकना ही नहीं, यही वह गङ्गाजल है, जिसने मनुष्य से निकले हुए विष के मद्यगन्धरूप  
 सखने हुए शम्भ को शान्त किया था । [ फिर कीर्ति ने अपने मन में सोचा— ] मैं शिव

कै कानों में वास करती हूँ अर्थात् शिव मुझे सदैव सादर सुनते रहते हैं और दूसरे यह कि मेरा स्वरूपभूत बालेन्दु (इवेत होने के कारण) भी तो शिव के भाल पर विराजमान है; फिर क्यों भगवान को इतना जाहनी पर पक्षपात है? लगता है इसी पक्षपात को देख कर कीर्ति उनसे रूठ गई और त्रिभुवन के बाहर बहुत दूर चली गई ॥

अलंकारः—उत्प्रेक्षा, व्याजस्तुति । छन्दः—सन्धरा ॥ १७ ॥

सर्वे स्वर्गनिवासिनः सुरवराः स्वस्वाधिकारस्थिराः

त्वत्सेवारससादराः सरभसं पीयूषपानादराः ।

स्वर्वेश्याकुचकुम्भसंभृतिपरारम्भोत्सवैर्निर्भराः

तत्र श्रीनृहरे ! चिरं तव कृपापाङ्गः परं कारणम् ॥ १८ ॥

सर्वे इति—हे श्रीनृहरे ? श्रीनृसिंह ? यस्वर्गनिवासिनः स्वर्गौकसः सर्वे अपि सुरवराः अमराः स्वे स्वे अधिकारे स्वस्वकर्तव्यकर्मणि स्थिराः व्यापृताः सन्ति, यच्च ते देवाः त्वत्सेवारससादराः तव सेवारसे सादराः निस्पृहाः विद्यन्ते, तथा सरभसं सहर्षं पीयूषपाने अमृतपाने आदरः येषां ते सन्ति, यच्च ते देवाः स्वर्वेश्यानां स्वर्गस्थानामप्सरसां कुचाः स्तना एवं कुम्भाः घटास्तेषां सम्भृतिः पराः सन्धारणपरायणाः रम्भोत्सवैः रम्भानाम्न्याः अप्सरसः उत्सवैर्महैः निर्भरा युक्ताः सन्ति, तत्र सर्वत्र चिरं चिरकालात् तव भगवतः कृपापाङ्गः कृपाकटाक्षः एव कारणं निदानं वर्तते इति शेषः । द्विवौकसामपि निरतिशयानन्दस्य सर्वविधैश्वर्यप्रपञ्चस्य च त्वमेव निदानमितरेषां भूलोकादिवासिनां मर्त्यादीनां तु सुखादेः त्वं कारणमिति किमु वाच्यमिति भावः । 'वेगे हर्षे औत्सुक्ये रभस' इति शब्दस्तोममहानिधिः । 'निर्भरोऽतिमात्रे तदयुक्ते' इति च । 'अपाङ्गो नेत्रप्रान्ते तिलके च' इत्यपि । 'पीयूषममृतं सुधा' इत्यमरः ।

हे नृसिंहदेव ! ये स्वर्गवासी सभी देवगण जो अपने अपने अधिकारों में भलीभाँति संलग्न हैं, तुम्हारी सेवा में इतनी आदरबुद्धि दिखाते हैं, और जो निरन्तर पीयूषपान में तत्पर रहा करते हैं, जो बराबर स्वर्गीय वेश्याओं के कुचकुम्भमर्दन में निरत रहा करते हैं, जो रम्भा नामक अप्सरा के नर्तनोत्सव में मग्न रहा करते हैं, सी तब तुम्हारी कृपाकटाक्ष का ही फल है ।

छन्दः—SSS IIS ISI IIS SSI SSI S शार्दूलविक्रीडितम् ॥ १८ ॥

चारणाः—

त्वद्दोर्दण्डप्रतापप्रचुरहुतवहान् संप्रतप्तोऽयमग्निः

मग्नेरभोधवगाथे प्रतिजठरमपि प्राणभाजा प्रविष्टः ।

उत्सवैर्महैः

योऽसौ न क्षापि लीनः स खलु नरहरे गाढमूर्च्छा प्रपन्नो

जीवत्यद्यापि लोके व्यजनमुपमरुद्वीज्यमानः समन्तात् ॥ १६ ॥

त्वदिनि—हे नरहरे ? हे नृसिंह ? प्रमिद्धोऽयमग्निर्वह्निः तव दोषायेव मुजा  
 घेव दण्डी तयोः प्रतापोऽनुभाव एव प्रचुरः प्रभूत हुतवह् अग्नि तस्मात् सप्रतप्त  
 तेन तापितः सन्नित्यर्थः । अगाधे प्रतिष्ठारहिते अम्भोधौ जलधौ मग्नः काल नयति  
 प्राणभाजां शरीरिणा प्रतिजठर जठरे जठरे सर्वस्य जठरे उदरे प्रपिष्टः सुगुप्तः सन्  
 काल नयति । यश्च तस्यैवानेरशभूतः क्वचिदपि न लीनः नास्मानं प्रच्छादितवान्  
 सोऽनलः गाढां मूर्च्छां चेतनाराहित्य प्रपन्न आपन्नः सन् समन्तात् सर्वतः व्यजन  
 मुपमरुता व्यजनादिवायुना व्यजनमुपमरुद्वीज्यमानः कथं चित् अद्यापि  
 लोके जीवति प्राणान् धारयति । त्वद्भुजप्रतापाग्निना तिरस्कृतोऽयं प्राकृतोऽग्नि  
 निस्तेजस्क इव तिष्ठतीत्यर्थः । 'भुजबाहू प्रवेष्टो दो' इत्यमरः । हुतमग्नौ प्रक्षिप्त  
 हविरादि वहति देवान्प्रापयति इति हुतवहोऽग्निः ।

हे नरहरि ! तुम्हारी मुजाओं से जनित प्रचुर प्रतापरूपी अग्नि ने जगत् को प्रक्षिप्त  
 अग्नि को पर्याप्त सतप्त कर दिया; यही कारण है कि सासारिक अग्नि अगाध  
 सागर के तल में ( बाढवाशि के रूप में ) जाकर छिप गई, [ उससे भी बची, छोटी  
 प्रत्येक प्राणी के जठर में ( जाठराग्नि के रूप में ) निरोहित हो गई, और जो वही न  
 होन हो सकी, उसे गाढ़ मूर्च्छा हो गई, तो उसीका फल है कि आज ससार में चारों ओर  
 भूँद से फूँक फूँक कर लोग बसे होना में लाते हैं—जिजाते है ।

छन्दः—ऽऽऽ ऽऽऽ ऽऽऽ ॥ १६ ॥ १६ ॥ १६ ॥ स्वधरा ॥ १९ ॥

सिद्धः—

सूत्रप्रोतिविचित्रवर्णमणिवद् यस्मिन् जगद् वर्तते

यस्मिन्नेव जले तरङ्गवद्विदं संजायते लीयते ।

यस्तत्कर्मविवर्जितः सलिलवत् साक्षी सहस्रांशुवत्

तं त्वां श्रीनृहरे पुराणपुरुषं कः स्तोतुमीशो भवेत् ॥ २० ॥

मूत्रेति—अथानन्तरं मित्र उवाच । हे श्रीनृहरे ! पुराणपुरुषं पुरातनं त्वां क  
 स्तोतुमीशः समर्थो भवेत् न कोऽपि स्या स्तोतुमीष्टे इत्यर्थः । कीदृशं स्वामिण्याह  
 यस्मिन्निनि । यस्मिन् स्यापि इदं पुरो दृश्यमानं जहाजहामकं, जगत् सूत्रे प्रोता  
 स्यूताः विचित्रवर्णो विचित्रवर्णा मग्नयो रत्नानीय वर्तते इति शेषः । यस्मिन्नेव  
 यस्मिन्नेव भवति इद् जगत् जले तरङ्गवत् क्वचिद्वत् संजायते उपपद्यते पश्चात्प  
 लीयते तत्रैव सहतिमुपति । यश्च त्वं त्वकर्मविवर्जितः जगतो विविधैः कर्मभि  
 न समृप्यसे नलिनपत्रे सलिलमित्र उवाचानः सन् तिष्ठसि । यद्वा सलिलं दप

तरङ्गव्यापाररहितं प्रशान्तं तद्भ्रजगद्व्यापारहितस्त्वं प्रशान्त इत्यर्थः । यश्च  
स्त्वं सहस्रांशुवत् आदित्य इव सर्वेषां साक्षी भूत्वा तिष्ठसि । 'यस्मिन् द्यौः पृथिवी  
चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः' 'ममान्तरात्मा तव च ये चान्ये देह-  
संश्रिताः । सर्वेषां साक्षिभूतोऽसौ न ब्राह्मः केनचित् क्वचित्' इत्यादि श्रुतेः  
स्मृतेश्च । 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इति च श्रुतेः ।

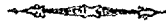
इति श्रीनृसिंहचम्पूकाव्ये चतुर्थोच्छ्वासः ।

फिर सिद्ध ने प्रार्थना की:—

जिस परमात्मा में यह संसार सूत्र में मणि की भाँति पिरोया हुआ है, जिसमें,  
जल में तरंग की भाँति, संसार उदित और लीन होता रहता है, जो सांसारिक कर्मों से  
सर्वथा जल की भाँति असंपृक्त रहता है, जो सूर्य के समान निर्लिप्त भाव से जगत् का  
साक्षी है, हे नृहरि ! वैसे तुझ परम एवं पुराणपुरुष की स्तुति करने में कौन समर्थ हो  
सकता है ?

छन्दः—शार्दूलविकीर्णित ॥ २० ॥

नृसिंहचम्पू का यह चतुर्थ उच्छ्वास समाप्त ।



## अथ पञ्चम उच्छ्वासः

अथ शृङ्गारः—

यद्बदनेन्दो रुदये हरेश्चकोरायित च नेत्राभ्याम् ।

तल्लावण्यनिधान रमाभिधान महः प्रययौ ॥ १ ॥

वदिभि—बदनमिन्दुरिष बदनेन्दुः । यस्या रमाया श्रियः बदनेन्दो' सुर-  
चन्द्रस्य उदये हरेः श्रीविष्णोः नेत्राभ्या नयनाभ्या चकोरायितम् चकोराभ्या-  
मिवाचरितम् । लावण्यस्य निधान निधि रमाभिधान रमाभिधेयं महः तेजः प्रययौ  
श्रीहरिसुपजगाम । प्रह्लादप्राप्त्या कारुण्योदयेन क्रोधापगमे सिद्धादिस्तुत्या प्राप्त-  
प्रमादे च भगवति अय क्रीडाऽवसर इति ज्ञात्वा रमा प्राप्तेति भावः । 'महस्तू-  
त्सवतेजसो' इत्यमरः । 'मुक्ताफलेपुच्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा । प्रतिभाति यद्-  
द्रेपु तल्लावण्यमिहोच्यते' इत्युक्तो देहसौन्दर्यभेदो लावण्यम् । चकोरः पक्षिविशेषः ।

अथ शृङ्गार का वर्णन आरम्भ करते हैं—

जिसके बदनरूपी चन्द्र के उदित हो जाने पर भगवान् के नेत्र चकोर की लीला धारण  
कर लेने हैं, उन लावण्यमागर रमा नामक तेजोराशि के समीप भगवान् पहुँच गए ॥

छन्दः—आर्या ॥ १ ॥

किं वर्णनीयमस्याः कविवर्यैः सौकुमार्यमार्यायाः ।

जननं क्षीरसमुद्रे मन्दिरमिन्द्रीवरं यस्याः ॥ २ ॥

त्रिभिभि—कविवर्यैरस्मादशैरन्यैर्वा कविशिरोमणिभिः । आर्यायाः 'कर्तव्यमा-  
चरन् काममकर्तव्यमनाचरन् । तिष्ठति प्रकृताचारे स वा धार्य इति स्मृतः'  
इत्युक्कलङ्काया उदारचरिताया अस्या रमाया' लक्ष्या । सौकुमार्यं सुकुमारता  
किं वर्णनीयं न वर्णयितुं शक्यते इत्यर्थः । यस्या' रमाया जननमुत्पत्ति' क्षीरसमुद्रे  
जानमिति शेषः । यस्याश्च मन्दिर निलयः इन्द्रीवरं नीलोत्पलम् । यस्याः श्रियः  
उत्पत्तिस्थानं क्षीरसमुद्रः, आलयश्च साप्रतमिन्द्रीवरं द्वयमपि लोकोत्तरमिति तस्याः  
किमु वाच्यं सौकुमार्यमिति भावः ।

उस आर्या के सौकुमार्य का कविवर क्या वर्णन करेंगे, जिसकी उत्पत्ति ही क्षीरसागर  
से है और जिसका मन्दिर स्वयं कमल है ॥

छन्दः—आर्या ॥ २ ॥

अपि च—

सौन्दर्येण भृशं दृशोर्नरहरेः साफल्यमातन्यती

सभ्रूमङ्गमपाङ्गवीक्षणवशादाकर्षयन्ती मनः ।

स्फूर्जत्कङ्कणकिङ्किणीगणभृणत्कारैः कृतार्थे श्रुती  
कुर्वन्ती शनकैर्जगाम जगतामाश्चर्यदायी रमा ॥ ३ ॥

सौन्दर्येणे—अङ्गप्रत्यङ्गानां यः सन्निवेशो यथोचितम् । 'सुरिल्लटः सन्धिवन्धः  
स्यात् तत् सौन्दर्यमुदाहृतम्' इत्युक्तलक्षणो नरहरः नृसिंहस्य दृशोर्न-  
यनयोः भृशमतिशयेन साफल्यं सफलतामातन्वती विदधाना । भ्रुवोर्भङ्गः भ्रूमङ्गः  
भ्रूसञ्चारः तेन सहितं सभ्रूमङ्गम् । अपाङ्गाभ्यां नेत्रप्रान्ताभ्यां वीक्षणं दर्शनं तस्य  
वशात् कारणात् सभ्रूमङ्गकटाक्षदर्शनात् हेतोरित्यर्थः । हरेर्मनो मानसमाकर्ष-  
यन्ती स्ववशमानयन्ती तथा स्फूर्जन्तीनां कणन्तीनां कङ्कणकिङ्किणीनां करभूषण-  
सुद्वघण्टिकानां 'किङ्किणी सुद्वघण्टिका' इत्यमरः । गणानां निकराणां क्षणत्कारैः  
क्षणक्षणध्वनिभिः श्रुती कर्णौ कृतार्थे कृतकृत्ये कुर्वन्ती जगतां लोकानामाश्चर्यदात्री  
विस्मयोत्पादिनी रमा श्रीः मन्दं जगाम श्रीहरिं प्राप । 'अपाङ्गौ नेत्रयोरन्तौ'  
इत्यमरः । 'वेदे श्रवसि च श्रुतिः' इत्यमरः । 'कङ्कणं करभूषणम्' इत्यमरः ।

हरि के नेत्रों को अपने सौंदर्य से अत्यधिक सफल बनाती हुई नेत्रों के प्रान्तभाग  
से देखने के कारण कटाक्षपात [ अर्थात् विलासमयी ] चेटाओं से उनके चित्त को आकृष्ट  
करती हुई तथा झनझनाते हुए कङ्कण एवं किङ्किणी के मधुर स्वर से उनके कर्णों को  
कृतार्थ करती हुई संसार को आश्चर्यान्वित करने वाली रमा भी धीरे-धीरे उनके समीप  
पहुँची ।

छन्दः—SSS IIS ISI IIS SSI SSI S शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ३ ॥

अपि च—

अन्योऽन्यं परिपश्यतोः सरभसं प्रेमप्रसङ्गोत्सवाद्  
ईपत्स्मेरमुखाब्जयोरतितरां यूनोरनूनश्रियोः ।  
श्रीश्रीवल्लभयोः क्षणं विरहतः प्रोद्यत्समुत्कण्ठयो-  
र्भूयासुर्जगतः शिवाय सततं संकेतभाजो दृशः ॥ ४ ॥

अन्योन्यमिति—सरभसं सहर्षमन्योन्यमितरेतरं परिपश्यतोरवलोकयतोः, प्रेम-  
प्रसङ्गोत्सवाद् प्रेम्णः स्नेहरसस्य प्रसङ्गोऽवसरः तस्य उत्सवात् ईपत् किञ्चित्  
स्मेरे विकसिते मुखे मुखकमले ययोस्तयोः, अनूनश्रियोः न ऊना हीना श्रीः  
शोभा ययोस्तयोः सम्पूर्णशोभयोरित्यर्थः, विरहतः वियोगाद्धेतोः प्रोद्यत्समु-  
त्कण्ठयोः प्रोद्यन्ती प्रोद्बुध्यन्ती समुत्कण्ठा औत्सुक्यं ययोस्तयोः अतितरामत्यर्थं,  
यूनोः युवा च युवतिश्च तयोः 'पुमान् स्त्रिया' इति युवशब्दस्य शेषः श्रीश्रीवल्ल-  
भयोः श्रीश्च श्रीवल्लभश्च तौ, तयोः लक्ष्याः नृसिंहस्य च, क्षणमीपत्कालं, सङ्केत-  
भाजः सङ्केत भजन्ते इति सङ्केतभाजः दृशः लोचनानि, सततं निरन्तरं, जगतः

संसारस्य शिषाय मङ्गलाय भूयासुः भवन्तु । 'इष्टलाभे क्षीरसुक्ये च उत्कण्ठा'  
इति शब्दस्तोममहानिधिः ।

और भी—

उस प्रेम के प्रसन्न में एक दमरे की नाँवों से देखते हुए, थोटा मुस्कराते बदन वाले, परस्पर भतिरेकी शोभा वाले, क्षामर के पारस्परिक विरह से भी उत्कण्ठित हो जाने वाले श्री एव श्रीवल्लभ के गृहकारिक सबैतों से भरे हुए नेत्र संसार के वस्याणार्थ सतत बने रहें ।

छन्दः—SSS IS IS IS S' SS' S शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ४ ॥

लक्ष्मी —

यत्प्यष्टपूर्वं सिंहमुखं ते तथापि न भयं मे ।

चिरतरकृतपरिचरणौ चरणौ करुणानिधे यतो वेद्मि ॥ ५ ॥

यत्प्रीति—हे करुणानिधे ! दयासागर श्रीनृसिंह ! यद्यपि ते तव इदं सिंहमुखं  
सिंहाकृतिवदनम्, अष्टपूर्वं पूर्वं कदापि न मया लोचनगोचरीकृतं तथापि मे  
मम त्वत्तो भयमातङ्को नास्ति । यतो यस्माद्गतोः चिरतरात् चिरकालात् कृत  
परिचरणं सेवनं यद्योस्तौ ते चरणौ पादौ अहं सम्यक् वेद्मि जानामि परिचिनो-  
मीत्यर्थः ।

हं करुणानिधि ! यद्यपि तुम्हारा यह सिंह की आकृति वाला मुँह मैंने कभी नहीं देखा  
है, तथापि मुझे इससे कोर भय नहीं है । इस निभयता का कारण यह है कि मैं तुम्हारे  
उन चरणों को अच्छी तरह पहचानती हूँ, जिनकी सेवा गिरवान्त से की गई है ।

अष्टङ्कारः—' परिचरणौ चरणौ'—मैं यमक नामर अष्टङ्कार है ।

छन्दः—यह 'आर्षा' का 'गीति' नामर एक प्रभेद है । यह मात्रिक छन्द है ।  
इसमें ७ गण होते हैं । प्रत्येक गण ४ गणु के होते हैं । इसके दोनों चरणों में ३०  
मात्राएँ हैं ॥ ५ ॥

ततः सकललायण्याविष्टानमिन्दिरापि जगज्जनमनोमोहनास्त्रमिव  
रूपं, भ्रूचापनिहितनिशिनविशिरात्रमिव कटाक्ष मदनुदितमातङ्गगतिवि-  
लासं चरणरणन्मणिनूपुरविचित्रयादित्रनिनादं भिभ्रती कोटिसमूहचमूरिव  
लक्षितमर्यादा सौन्दर्यसिन्धुलहरीय नृहरेः समश्च प्रचलितुं प्रचक्रमे ।

तत्र इति—ततस्तदनन्तरम् जगज्जनमनोमोहनास्त्रम् जगतां त्रयाणामपि लो-  
कानां जनानां लोकानां मनो मोहयतीति मनोमोहनं तथास्त्रमिति जगद्यमनु-  
प्याणां मतम् एते ह्यस्त्रं चरीकरणास्त्रमिव रूपं सौन्दर्यं विभ्रती 'यत्पन्ती' भ्रुवा-

वेव चापौ धनुषी तयोर्निहिताः संहिता निशितास्तीक्ष्णाः विशिखा बाणा येन तं कटाक्षमिव अपाङ्गदर्शनमिव विभ्रती मदमुदितेति मदेन मुदितस्य मातङ्गस्य गतेर्विलास इव विलासो यस्य तम्, चरणेति चरणयोः पादयोः रणतां कणतां मणिनिमित्तनूपुराणां विचित्रं विलक्षणं वादित्रनिनादं मृदंगादिवाद्यध्वनिं विभ्रती, कोटिसमूहा चमूरिति कोटिसमूहचमूः कोटिसंख्याका सेना इत्यर्थः, सा इव, लङ्घिता उल्लङ्घिता मर्यादा स्थितिर्यथा सा सौन्दर्यस्य सिन्धोः सागरस्य लहरी वीचिरिव सकलस्य सर्वस्य लावण्यस्य अधिष्ठानं निवासरता इन्दिरा सा श्रीः अपि नृहरेः नृसिंहस्य समत्तं प्रत्यक्षं प्रचलितुं गन्तुं प्रचक्रमे उद्यता बभूव । पृषत्कन्वाण-विशिखाः इत्यमरः । वादित्रं मृदङ्गादिवाद्ये इति शब्दस्तोममहानिधिः ।

इसके पश्चात् निखिल सौन्दर्य के निधान, करोड़ व्यक्तियों से घटित सेवा की तरह मर्यादा का अतिक्रमण करती हुई, सौन्दर्यलहरी की भाँति उस इन्दिरा ने भी भगवान् के समक्ष चल पड़ने का उपक्रम किया, जिसका रूप सारे संसार के प्राणियों के मन को वशीभूत करने में मोहनाख का कार्य करता है, जिसके कटाक्ष धनुषाकार भौहों पर पड़े हुए तीखे बाण के से जान पड़ते हैं, जिसकी गति में मत्त मत्तङ्ग का गति-विलास श्लकता है, जिसके चरणों में निरन्तर मणिमय नूपुर का निनाद शब्दकृत होता रहता है ।

अलङ्कारः—‘भूचाप’ में रूपक तथा अन्यत्र कई स्थलों पर उपमा स्पष्ट है ।

एवमरविन्दविगलदमन्दमकरन्दविन्दुसन्दोहवदिन्दिरासुन्दरतरवदन-मधुराधरसुधासंबन्धनिःसृतमृदुतराक्षरनिकररचितकर्णरसायनस्य चिर-तरविरहसोत्कण्ठहृदयसम्भावितसंभोगारम्भसंभवतोपाभिलाषमिपेण क-मलाविमलमुखकमलमधुपानसादरनयनभृङ्गस्य विपुलपुलककुलकलित-कलेवरस्य भगवतः क्षणमन्तःकरणं शृङ्गाररसार्णवे मग्नमासीत् ।

एवमिति—एवमित्थमरविन्दात् कमलात् विगलन् तरन् यः अमन्दोऽत्य-धिको मकरन्दः पुष्परसः तस्य पृपतानां सन्दोहवत् समूहवत् इन्दिराया लक्ष्म्याः सुन्दरतरस्यात्यधिककमनीयस्य वदनस्याननस्य यो मधुरोऽधरोऽधरो दन्तच्छदः स एव सुधा पीयूषं तस्य संबन्धात् संकर्पात् निःसृतानां निर्गतानां मृदुतराणामतिसुकुमारणां श्लक्ष्णानां वा अक्षराणां कचटतपादिवर्णानां निकरेण प्रकरेण रचितं कर्णयोः श्रोत्रयोः रसायनं जराव्याधिहरमौषधं, यस्य तस्य चिर-तरेण चिरकालिकेन विरहेण वियोगेन सोत्कण्ठमत्युत्सुकं यद् हृदयं तस्मिन् सम्भावितः यः सम्भोगारम्भस्य संभवः तेन यः तोपस्यातिशयानन्दस्याभिलाषः तस्य मिपेण वाञ्छाव्याजेन कमलाद्या लक्ष्म्या विमलस्यातिगौरस्य सुखकमलस्य चदनाब्जस्य मधुपाने अधररसपाने सादरे नयने नेत्रे एव भृङ्गौ मधुकरौ यस्य तस्य, विपुलैः प्रभूतैः पुलककुलैः रोमाञ्चसमूहैः कलितं व्याप्तं कलेवरं शरीरं यस्य तस्य



भगवतः श्रीनृसिंहस्य अन्तःकरणं स्वान्तं चणमुहूर्तमात्रं शृङ्गाररसाणवै शृङ्गार-  
रससागरे मग्नं निमग्नमासीत् । मकरन्दः पुष्परसं ह्ययमरः ॥

इसके पश्चात् उक्त अवसर पर भगवान् का अन्तःकरण क्षण भर के लिए शृङ्गाररस  
के समुद्र में विनोद हो गया । कारण यह था कि उस समय भरविन्द से शरीरों द्वारा  
मकरन्द-शुद्धि का जो राशि सा प्रतीत होता हुआ शन्दिरा के सुन्दरतर वदन के  
मधुर-अधर में जो सुधा भरी है, उसके सम्पर्क से मुम निर्गत वचनावली उनके कानों में  
रसायन का सा काम कर रही थी, कमला का विमलं मुख-कमल था और उससे छरकते  
हुए माधुर्य का पान करने के लिए इनके नेत्र मौरों की तरह सादर टूट रहे थे । यह  
दिदृक्षा स्वामात्रिक है, उस अवसर पर चिरवाणीन विरह-जनित भौत्वण्डय के वारा  
समाविन समोगमयी वृत्ति के हृदय में उद्भूत हो जाने के परिणाम स्वरूप जगा हुआ  
तोष एव अभिलाष तो उस काल के लिए बहाना मात्र था, उनका सारा शरीर पुष्काङ्कुर  
से अङ्कित हो उठा था ।

अलङ्कारः—‘मिथेन’ से कैतवापहृति’ । उपमा, रूपक एव वृत्त्यनुप्रास की भी  
उत्तम छटा है ।

आश्लेषावसरे करेण न हरिर्हारः समुत्तार्यते ।

यन्लक्ष्म्या न तु यक्षसोऽन्तरमयव्याजेन यत्तन्मृषा ।

सूत्रालम्बितकौस्तुभप्रतिकसौन्मुक्तस्वकीयानुज-

प्रोद्भूताधिकलज्जयेत्यनुदिन शङ्केऽस्तशङ्केक्षणम् ॥ ६ ॥

आश्लेषेति—आश्लेषावसरे समागमप्रसङ्गे लक्ष्म्याः वियः वचन उरमः हरेः  
लक्ष्मीपतेः करेण हस्तेन हारः न समुत्तार्यते हारो नापनीयते इति यत् तत् अन्तर-  
मयव्याजेन मानमोहेगहंतुना नापनीयते इति यदि कश्चिदाद्यज्ञात शकंठ वा  
उन्मृषा तदसत् । हरिः समागमावसरे लक्ष्म्याः हारं नापनयति तत्र कश्चन शङ्कते  
यत् यदि हरिर्हारमपनयेत् तदा गाढालिङ्गनशङ्कया लक्ष्मीरद्विजेत अतः हरिर्हारं  
नापनयति । परन्तु कश्चिदप्राण्यदंबोत्प्रेष्य हारानपनयनस्यैव कारणं मिथ्या हृत्याह ।  
सत्र हि हारानपनयनस्य वास्तविकं किं कारणमिग्यपक्ष्य उत्प्रेषामाह कविः सूत्रेति  
सूत्रे अवलम्बितस्य कौस्तुभस्य मगिविशेषस्य प्रतिक्रमेन प्रकाशेन उन्मुक्ता धारि-  
ता या स्वकीयानुजस्य वप्रधातुः । कौस्तुभस्यैत्यर्थः शीरसागरोशयःशालक्ष्मी कौस्तु-  
भश्च परम्परमुभाद्यपि भ्रातरावेव प्रोद्भूता समुद्भूता अधिका लज्जा हीः तथा  
हेतुना हारो नापनीयते हरिणा इति हेतोः अनुदिनमहर्दिवमस्तशङ्केषणम् अस्त-  
शङ्के निगतशङ्के ईषणं लोषणे यस्मिन् इति क्रियाविशेषणम् । लक्ष्मीलक्ष्मीपतिश्च  
परस्परं रमेते इति शङ्के मन्ये ।

[इस शृङ्गार रस के आवेश में भगवान् ने लक्ष्मी का आलिङ्गन किया]—इस आश्लेष के अवसर पर यद्यपि लक्ष्मी को यह उचित था कि गाढ़ आश्लेष में विघ्न डालने वाले हार को हटा दें, फिर भी उन्होंने अपने हाथ से भगवान् के वक्षःस्थल पर पड़ा हुआ हार हटाया नहीं। हार के इस अनपयन में कुछ लोग यह वतलाते हैं कि उस आकस्मिक एवं हठात् आश्लेष के कारण लक्ष्मी के अन्तःकरण में भय एवं उद्वेग पैदा हो गया। इसी भय एवं उद्वेग के कारण लक्ष्मी उसे हटा न सकीं। कवि लोग इस कारण को उचित नहीं समझते। उन लोगों की तो निःशङ्क यह उत्प्रेक्षा है कि असल में लक्ष्मी को उस अवसर लज्जा आ गई। भगवान् के वक्षःस्थल पर पड़े हुए हार में कौस्तुभ मणि लटकता है। कौस्तुभ मणि एवं लक्ष्मी समुद्र की सन्तान हैं, अतः दोनों परस्पर भाई-बहन हैं। सारांश यह कि आश्लेष के अवसर पर साक्षात् भाई को सामने देखकर वे लज्जित हो गईं और लज्जित होने के कारण हार को हटा न सकीं।

अलङ्कारः—उत्प्रेक्षा ।

छन्दः—१९ वर्णों का शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥ ६ ॥

सा पङ्केरुहवासिनी नरहरेरङ्केऽधिरूढा रहः

सङ्केतेन लयं गतेऽथ विरहातङ्के विशङ्केव सा ।

कान्ताश्लेषविवृद्धसंभ्रमभरप्रोद्भूतवाष्पा स्फुरद्-

रोमाञ्चस्वरभेदवेपथुपृथुस्तम्भादिभिर्भूषिता ॥ ७ ॥

तेति—प्रियसंगमार्थं गुप्तस्थानं संकेतः रहसि निर्जने संकेतस्तेन विरहातङ्के वियोगभये लयं गते विलीने सति विशङ्का विगता शङ्का संभ्रमो यस्याः सा नरहरेः नृसिंहस्य अङ्के अधिरूढा क्रोडमधिष्ठिता सा पङ्केरुहवासिनी सरसिजासना सा लक्ष्मीः कान्तेति कान्तस्य स्वपतेः आश्लेषेण आलिङ्गनेन विवृद्ध उपचितः यः संभ्रमभरः हर्षातिशयः तेन प्रोद्भूतमुत्पन्नं, वाष्पमानन्दाश्रु यस्याः सा सती लक्ष्मीः रोमाञ्चश्च स्वरभेदश्च, वेपथुश्च, पृथुस्तम्भश्च इत्येतेषामितरेतरयोगः ते आदौ येषां तैः रोमाञ्चादिभिः सात्त्विकविकारैः भूषिताऽलङ्कृता अभवदिति शेषः । 'रोमाञ्चो रोमहर्षणम्' इत्यमरः । सात्त्विका विकारा यथा 'स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः । वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका मताः' इति साहित्यदर्पणे ॥

इति शृङ्गारः ।

रमणोपयुक्त संकेत स्थान का निश्चय हो जाने से जब वियोग का भ्रंतक जाता रहा, तब भगवान् के क्रोड में इन्दिरा निःशङ्क विराजित हुई और कान्त द्वारा किये गए

आदलेय के फलस्वरूप हर्षातिशयजनित आनन्दाद्यु से परिपूर्ण लक्ष्मी रोमाञ्च, वैस्वर्य, वेपथु, स्तम्भ आदि सात्त्विक भावों से भूषित हो उठीं ।

विशेषः—सप्त श्लोक में सभी सात्त्विक भावों का वर्णन है ॥ ७ ॥

अथ शान्तः ।

देवः सानन्दम् :—

परारमाहं मूलप्रकृतिरियमम्भोजनिलया

चिदानन्दाम्भोधौ चिरमथ विहारः समुचितः ।

असङ्गोदासीने निरतिशयतोपैकवपुषि

प्रियं क्षुद्रानन्दैर्मयि किमु निमेषार्धगतिभिः ॥ ८ ॥

देव इति—तदनन्तरं देवः श्रीनरहरिस्वाच । ॐ परारमा परं ब्रह्मेति यावत् । इय च अम्भोजनिलया अम्भोज सरसिज निलयो धासस्थानं यस्याः सा लक्ष्मी, मूलप्रकृतिरय्यक्तप्रकृतिरस्ति । अथ अयानन्तरम् भावयोः चिदानन्दाम्भोधौ चिदानन्दसागरे चिरं चिरकाल विहारो रमण समुचितो युक्त प्रेम्भ्यर्थः । तथापि अम्भो 'असङ्गोऽयं पुरुष' इति श्रुते सगरहिते कमलप्रतयोवत् इत्यर्थः अतएव उदासीने 'अनरनखन्या अभिचाकरोति' इति श्रुतेः भोक्ष्मोऽयंरहिते, निरतिशयमत्यर्थं तोष, परमानन्द एव एक वपुः शरीरं यस्य तस्मिन् आनन्द-स्वरूपे इत्यर्थं मयि नृसिंहाख्ये परमहृदि निमेषार्धगतिभिः निमेषार्धं गतिर्येषां तैः क्षणमप्यनवस्थापिभिरित्यर्थः एभिः क्षुद्रानन्दैः तुष्टैः सांसारिकैः सुख- किमु प्रियम् किमिष्टम् । 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान् भाषिन् तु महेश्वरम् । तस्यावपवभू- खैस्तु श्यास सपमिदं जगत्' इति श्वेताश्वतरोपनिषदि इति भावः ।

प्रतिष्ठा के अनुसार यहाँ तक शृंगार रस का वर्णन किया गया । यहाँ से आगे शान्त रस का प्रभाव दिया जा रहा है ।

पश्चात् देवादिदेव श्री नरहरि ने कहा—मैं स्वयं परब्रह्म हूँ और यह कमलामना मूलप्रकृति है । हम दोनों का चिदानन्द सागर में ही चिरकाल तक विहार समुचित है । जब यह स्पष्ट है कि मैं असङ्ग, उदासीन, आनन्दस्वरूप हूँ, तो फिर मुझे इस क्षण भर तक मिलने वाले क्षुद्र बोधि के लौकिक आनन्द से क्या ? अर्थात् इसकी मुझे कोई कामना नहीं ।

छन्दः—शित्तरिणी । यह १७ वर्णों का वानं-वृत्त है ॥ ८ ॥

किं मित्रं किममित्रतामुपगतं कः स्वः परो वाऽपि मे  
का मे हर्षविषादितारिविजयश्लाघाविभङ्गश्च कः ।  
मानाशेषविकल्पविस्तृतसरिच्छातोर्मिमालश्चिरं  
विज्ञानामृतवारिधिर्नयनयोरग्रे समुज्जृम्भते ॥ ६ ॥

किमिति—मे मम निरुपाधिकस्य परब्रह्मण इत्यर्थः किं मित्रं कः सुहृत् । किं मे अमित्रतामुपगतम् अर्थात् कः मे असुहृत्, मे मदर्थं स्वः निजः परः निजेतरः अपि कः । न मे कश्चिन्नजः नापि च मे कश्चन पर इत्यर्थः । न मे कश्चिन्मित्रं न च कश्चिच्छत्रुरित्यर्थः । 'समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः' इति गीता-स्मरणात् । हर्षेति हर्षश्च विषादश्च इति हर्षविषादौ तौ अस्य अस्मिन् वा वर्तते इति स हर्षविषादी तस्य भावः हर्षविषादिता मे मम का हर्षविषादिता 'न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियं' इति हर्षविषादौ स्थितप्रज्ञस्य मुनेर्न स्मृतौ । मम अरेर्विजयस्य श्लाघा प्रशंसापि का, न कापीत्यर्थः । कश्च विभंगः पराजयोऽपि वा मम कः । मग्नाशेषेति अशेषा विकल्पा एव विस्तृता वितताः सरितो नद्यः मग्नाश्च ता अशेषविकल्पविस्तृतसरितः, ताभिः छाता लूना अर्मिमालाः तरङ्गावलयः यस्य सः विज्ञानमेवामृतं तस्य वारिधिः सागरः, 'नयनयोर्नेत्रयोरग्रेऽध्यक्षं समुज्जृम्भते नरीनृत्यते विद्योत्तते वा । 'भङ्ग-स्तरङ्ग ऊर्मिर्वा स्त्रियां वीचिः'—इत्यमरः । छाता 'छिन्नं छातं लूनं कृत्' मित्यमरः । छातमिति 'दुर्बले छिन्ने वा' इति शब्दस्तोममहानिधिः । छो छेदने इत्यस्मात् कर्मणि कर्तरि वा क्तः । यस्मिन् सर्वमपि विकल्पजातमन्तर्हितं भवति सर्वोऽपि द्वैतप्रपञ्च उपशाश्रयति सोऽयं विज्ञानवारिधिरध्यक्षं चकास्तीति तव मित्रामित्रचर्चाया हर्षविषादजयपराजयादीनाम् वा विचारस्यावकाश एव, नोप-तिष्ठते इति भावः ।

हमारा कौन मित्र है ? और कौन शत्रु ? कौन अपना है और कौन पराया ? मुझे हर्ष और विषाद कैसा ? शत्रु-विजय से क्या श्लाघा ? और पराजय से क्या (क्षोभ) ? यहाँ तो नेत्रों के समक्ष विज्ञानामृत का वह अछोर समुद्र लहरा रहा है, जिसमें निखिल विकल्प-जात नदियों की भाँति निमग्न हो गया है ।

छन्दः—शार्दूलविक्रीडित । यह वर्णवृत्त १९ वर्णों का होता है ॥ ९ ॥

ततो युगपदुदितानेकप्रचण्डचण्डकरकोटिसमुज्ज्वलसुन्दरशरदिन्दु-सहस्रशीतलसुधाधारासारमधुरपरानन्दैकरसं स्वयं वेद्यं स्वस्वरूपम्, अस्मिन् प्रगृह्यमाणे प्रचुरतरसुखानुभवनिमीलिताक्षः समुद्रभूतसकल-

सात्त्विकोद्रेकभूषितांगो योगदशाधिरूढां शान्तिमिव परमहंससंसाधितां  
मूर्तिमतीं मुक्तिमिव सहचरीमादाय नरहरिरन्तर्दधे ॥

तत इति—ततस्त्वदनन्तरं युगपदेकपदे एव उदिताः समुदिताः या अनेकाः  
प्रचण्डानां चण्डकराणां विगमांशूनां कोटयः ज्ञातलक्षमिताः सख्याः वद्वत् समुज्ज्वलं,  
सुन्दराणां शरदिन्दूनां शरचन्द्राणां सहस्रवत् शीतल सुधाधारासारवत् पीयूष-  
प्रवाहवत् मधुर, परानन्दैकरसं परश्चासावानन्दः परमानन्द इत्यर्थः तदेकरसं तद्रूपं  
स्वयमात्मनैव वेद्य ज्ञेय अनुभवमात्रगम्य न तु वागिन्द्रियगोचरमिति भावः । 'न  
शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते' इति श्रुतेः ॥ अस्मिन्  
प्रगृह्यमाणे चाद्यनोऽतीतानन्दे अनुभूयमाने प्रचुरतरस्य प्राज्यतरस्य सुखस्य  
सातस्य अनुभवेन निमीलिते इव अक्षिणी लोघने यस्य स आनन्दनिमीलितश्च  
इत्यर्थः । समुद्भूतस्य सकलस्य सारविकस्य सर्वगुणाद्गुणस्य भावस्य उद्रेकः  
वृद्धिः तेन भूषितानि अङ्गानि यस्य स विष्णुः योगदशाधिरूढां योगावस्थामापन्नां  
शान्तिमिव, परमहंसैः साधितां प्राप्तां मूर्तिमतीं देहधारिणीं मुक्तिमिव सहचरीं तां  
पद्मादाय सह नीत्वा नरहरिः स विष्णु अन्तर्दधे तिरो बभूव ।

भगवान् वा अपना स्वरूप एक साथ उदित कोटि कोटि सूर्यो के समान समुज्ज्वल  
है, शरत्कालिक सैकड़ों चन्द्रों के समान शीतल है, पीयूष प्रवाह की तरह मधुर है, परमा-  
नन्द स्वरूप है तथा अनुभवमात्र से वेदनीय है । अपने इस सहस्र स्वरूप में प्रतिष्ठित  
हो जाने पर प्रचुरतर सुख की अनुभूति से अंतर्निमाहित हो गई, निखिल सारविकमात्रों  
के उद्रेक से अंग अंग सबोद हो उठा । इस मुद्रा में भगवान् योगदशा में प्राप्त शान्ति  
की भाँति, परमहंस की प्राप्त हुई मूर्तिमती मुक्ति की भाँति अपनी सहचरी को लेकर  
अंतर्हित हो गए ।

अलङ्कारः—माद्योपमा ।

मद्भागी यदि शार्ङ्गिणो गुणगणव्याकर्णनोद्यत्सुधा-

स्याद्वाहाद्विवृद्धिभूरिभसे नायेन हीनं पदम् ।

कुत्राप्युच्यते स्वता भवति चेत् तत्साधयः ! शोध्यतां

गुञ्जा मौक्तिकहारपुञ्ज रतिता प्राज्ञैर्न किं त्यज्यते ॥ १० ॥

मद्भागी उ—यदि शार्ङ्गिणः नरहरेः गुणानां गणस्य व्याकर्णनेन ध्वनेन उच्यन्  
उच्छ्रयः सुधास्वादः अमृतरसपानं तस्य य आहादः परमानन्दः तस्य विवृद्धेः  
समृद्धेः भूरिभसे प्रभूतसंज्ञे मद्भागी मम वाक् यदि कुत्रापि कथवापि साधयं

स्वामिना (शार्ङ्गिणा) हीनं रहितं पदं शब्दं सुसिद्धन्तादिरूपम् उक्तवती कथितवती चेत् यदि हे साधवः ! हे सन्तः ! भवतां स्वता आत्मीयता भवति वर्तते भवन्तो यदि मामात्मीयं मन्यन्ते इत्यर्थः । तत्तर्हि शोध्यतां, तस्य शोधनं क्रियतां, न तत्र मम दोषो गण्यतां, यतोऽहं शार्ङ्गिगुणगणाकर्णनामृतरसपानमत्ततथाऽन्यन्नमना अभूवमिति भावः । किं प्राज्ञैः विद्वद्भिस्तज्ज्ञैरित्यर्थः, मौक्तिकहारपुञ्जपतिता मौक्तिकानां मुक्ताफलानां हारपुञ्जे पतिता गुञ्जा रक्तिका न त्यज्यते ? अपि तु त्यज्यत एवेत्यर्थः । अत एव भवद्भिरपि तत्पदं परित्याज्यमिति ममेदमावेदनमिति नम्रम् ॥

इस अंतिम श्लोक में कवि अपने वक्तव्य का उपसंहार करता हुआ विनय-गर्म निवेदन प्रस्तुत करता है ।

हे सज्जनवृन्द ! भगवान् नृसिंह के गुण-गण-श्रवण से ऐसे सुधामय आनन्द की विवृद्धि हुई कि मैं उसमें तल्लीन हो गया और इस तल्लीनता में सम्भव है कोई ऐसा पद निकल गया हो, जिसमें भगवान् का स्मरण न हो, तो ऐसी स्थिति में मेरी प्रार्थना यह है कि मेरे प्रति आप लोग आत्मीय जन का सा भाव रखकर उस पद को शोधित कर लें । क्या पण्डित लोग मौक्तिकहार की राशि में पड़ी हुई गुञ्जा को अलग नहीं कर देते ?

छन्दः—शार्दूलविक्रीडित । अलङ्कारः—दृष्टान्त ।

आसांदस्तसमस्तदोषनिवहं गोदो विदभ्रायुतेः ।  
 क्रोरेनोत्तरतस्तदुत्तरतटे वार्याभिधानं पुरम् ॥ १ ॥  
 तत्रासीद् गणकाग्रणी.....श्रीनागनाथो द्विजः ।  
 भारद्वाजकुलेऽथ तस्य तनयः श्रीजानराताभिधः ॥ २ ॥  
 यद्ग्रन्थान् समधीत्य शिष्यनिवहोऽप्याचार्यचर्यामिगात् ।  
 तत्सूनुर्गणितार्णवप्रतरणो सत्क.....सुधीः ॥  
 संगीतागमकाव्यनाटकपटुः सूर्याभिधानः कविः ।  
 चम्पूकाव्यमिदं चकार चतुरं लक्ष्मीपतिप्रीतये ॥ ३ ॥

इति श्रीमहैचज्ञपण्डितसूर्यविरचिते नृसिंहचम्पूकाव्ये पञ्चमोच्छ्वासः ।

॥ श्रीलक्ष्मीनृसिंहार्पणमस्तु ॥

इष्वाकाशस्त्रपथैस्नैर्मिते वैक्रमहायने ।  
 नृसिंहचम्पूनाव्येऽरिम्न व्यधान् सूर्यो विवेचनम् ॥ १ ॥ -  
 सत्याचारविवर्धनाय महता प्राचा प्रपञ्चात्रिता ।  
 विद्यायोगपथे पृथुध्रमनुषा प्रया न सतीति न ॥  
 एषा मन्वृतिरत्र कश्चन गुणो यद्यस्ति सभाव्यताम् ।  
 कर्ता चेन्न चिरन्तन किमियता हीयत च सम्भवा ॥ २ ॥  
 यादृश पुस्तक दृष्ट तादृश त्रिखित मया ।  
 यदि शुद्धमशुद्ध वा मम दोषो न दीयते ॥  
 यदक्षरपदभ्रष्ट स्वरव्यथनवर्णितम् ।  
 तत्सर्वं क्षम्यता देव । नृसिंहाय नमोऽस्तु ते ॥

शके १५८० भाद्रपदवदि ३ सोम वैदर्भदेशे लिखित श्रीधराश्रमेण ।

श्रीलक्ष्मणनृसिंहार्पणमस्तु ।

नृसिंहचम्पूनाव्ये गणितश्लोकमन्या शत ३०० सम्पूर्णमस्तु ।

नृसिंह चम्पूना पद्यम उच्च्वाप्त समाप्त ।



समाप्तश्चाय ग्रन्थः



## श्लोकानुक्रमणिका

अगस्त्योऽभूत्	१८	गीर्वाणेन्द्रगिरे	१०
अग्ने याहि शशाङ्क	५६	घातस्तात स्वमग्ने	५७
अन्याद्यं न कले	४३	चण्डडम्बरभृङ्गु	३३
अन्योऽन्यं परि	७१	त्रिञ्चैतन्यं ब्रह्म	२४
अस्त्येव वस्तुजाते	२९	तच्छ्रुत्वा कुपितः	१२
अहो ! महदाश्चर्यम्	५२	ततः स्तम्भोद्भूता	३६
अहो मूर्खा मर्त्याः	१४	तातास्तावदमी	१७
आटोपोत्कटकोटि	३२	ते स्युः क्रमादिह	८
आत्मानं स्वशरीर	२०	स्वद्दोर्दण्डप्रताप	६७
आनन्दं स दधातु	१	दीर्घायुर्भव विक्रमी	६२
आनीतोऽहमिभा	५४	दुर्वलं नरशरीर	२०
आश्लेषावसरे	७४	दैत्यारतेर्नखेभ्यः	४७
आसीद् दैत्यकुले	११	धिग् दुःशरीर	४६
उप्रक्रोधकृशानु	४३	नटे सामाजिके	८
उद्यद्वैकुण्ठकण्ठी	३१	निर्माता त्वं च	६०
किं नासन् भ्रातृ	३७	नेदुर्दुन्दुभयो	६२
किं भीषणेन	३८	परात्माहं मूल	७६
किं मित्रं किममित्र	७७	पित्रा वा हननं	५२
किं वर्णनीय	७०	पृथ्व्यां पाथसि	२८
कीर्तें त्रैलोक्य	६५	पेतुर्वृत्तं धत्ते	१७
कीलाले क्लेदि	६१	प्रखरनखराघातो	४६
कीलालं स्थलतां	१३	प्रहाद तात	६१
कुतो रसनिरूपणं	५	भ्राग्यद् भूभागभीमः	३०
क्रूरक्रोधाग्नि	४२	मदीयवशवर्तिनः	२३
गर्भाविर्भावभाजः	९	मद्वाणी यदि	७८



मन्मातुरिन्दिराया-	१४	शृण्वन्तु मातृति	६
मातर्जंगजननि	५०	पद्मिंपरिदृपितः	२३
यं मत्ते श्मरसि	१९	सर्वे स्वर्गोनिधासिन'	६७
यत्सकृत्पविकृत्प	३	मान्द्रानन्दं यदन्त.	२५
यदि देहिनोऽपि	२८	सा पद्मेहहवासिनी	७५
यद्यप्यदृष्टपूर्वं	७२	सिंहः सिंह इति	५१
यद्ददनेन्दोरुदये	७०	सुतारामे ग्रामे	२७
यज्ञोलकालकर	३३	सूत्रप्रोक्तविश्विद्य	६८
युद्धाटोपचपेट	४०	सौन्दर्येण शृशं	७०
युष्मत्स्वप्नस्य	३८	हन्ताहं तावदश	५९
विष्णो ! विष्णोः	५५	हरेरुदारं गिरमाकलय	३९
विष्णोश्चिरं चरण	५	हस्तन्परना विधात्रा	६५
शोपोऽशोपविशेष	४	हाहाकारं विदिष्व	५०